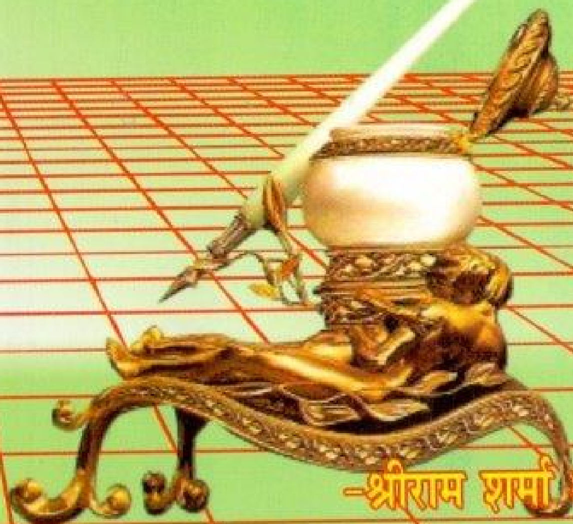
देखन में छोटे लगें घाव करें गम्भीर

भाग-१



-श्रीराम शर्मा आचार्य



देखन में छोटे लगें घाव करें गम्भीर

(महापुरुषों के जीवन के अविस्मरणीय संस्मरण)

(प्रथम भाग)

卐

लेखक :

पं. श्रीराम शर्मा आचार्य

प्रकाशक

युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट

गायत्री तपोभूमि, मथुरा

फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९

मो. ०९९२७०८६२८७, ०९९२७०८६२८९

फैक्स नं०- २५३०२००

पुनरावृत्ति सन् २०१३ मूल्य : १५.०० रुपये

यह संकलन

'युग निर्माण योजना' में महापुरुषों के जीवन प्रसंगों, सत्य घटनाओं, लघु कहानियों, बोध कथाओं आदि को प्रकाशित करने की अविच्छिन्न परंपरा रही है । आकार में छोटे परंतु प्रेरक, मनोरंजक एवं रोचक होने के कारण सहज ही इन्हें पढ़ने की इच्छा होती ही है । कभी कभी ये प्रसंग मनुष्य के जीवन में क्रांतिकारी परिवर्तन भी उपस्थित कर देते हैं, उसकी जीवन धारा को ही बदल देते हैं । यदि इतना न भी सही तो भी ये हमारे मन को छूकर उसे प्रकट-अप्रकट रूप से प्रभावित तो करते ही हैं । इनकी मर्मस्पर्शिता ही इनकी सबसे बड़ी विशेषता है । इनके बारे में निश्चयात्मक रूप से यह कहा जा सकता है कि देखन में छोटे लगें घाव करें गंभीर ।

एक बात और । प्रेरक प्रसंग प्राय: सभी वर्गों के पाठकों के लिए उपयोगी एवं रोचक होते हैं । बाल, युवा, वृद्ध, नर-नारी, छात्र-नेता-अभिनेता-व्यवसायी आदि सभी इन्हें पढ़ने में रुचि लेते हैं । जब भी समय मिला एक दो प्रसंग पढ़ लिया । प्रेरणा मिली तो चिंतन-मनन में डूब गए । अवसाद, विषाद, निराशा के क्षणों में तो ये परमौषधि का काम करते हैं ।

इन्हीं सब विशेषताओं के कारण 'युग निर्माण योजना' में प्रकाशित विभिन्न प्रसंगादि को संकलित कर हम कई भागों में इन्हें प्रकाशित कर रहे हैं । आशा है हमारा पाठक वर्ग इन लघु पुस्तिकाओं का अवश्य लाभ उठायेगा ।

-प्रकाशक

विषय-सूची

सत्कार्य करना ही सच्चा संन्यास है

बंगला के प्रसिद्ध नाटककार गिरीश घोष को जगन्माता का साक्षात्कार करने की धुन सवार हुई । वे घंटो कालीघाट के मंदिर में बैठे रहते । पर उन्हें उस पाषाण प्रतिमा में माँ के दर्शन नहीं हो सके । एक दिन, दो दिन, चार दिन बीत गए पर कृपा की एक किरण भी वे न पा सके ।

उन्होंने मंदिर जाना छोड़ दिया । स्वयं को एक कमरे में बंद कर लिया तथा इस विषय में चिंतन करने लगे । चिंतन करने पर वे इस परिणाम पर पहुँचे कि वह एक सांसारिक जीवन जी रहे हैं । ईश्वर से साक्षात्कार करने के लिए वैराग्य आवश्यक है, गृहत्याग आवश्यक है, सांसारिक दायित्वों का त्याग आवश्यक है ।

संन्यास ग्रहण के लिए गुरु की खोज आरंभ हुई । गिरीश घोष का प्रबुद्ध मन-मस्तिष्क हर किसी गेरुए वस्त्रधारी साधु बाबा को अपना पथ-प्रदर्शक स्वीकार नहीं कर सकता था । जो स्वयं अंदर से रिक्त हों वे दूसरे को क्या आत्मबल दे सकेंगे ? इस प्रकार के रंगे सियार कहीं सिंह थोड़े ही बन सकते हैं । ऐसी एक ही महान विभूति श्री रामकृष्ण परमहंस थे जिन्होंने जगन्माता से साक्षात्कार किया था । नर से नारायण बनने की उच्च स्तरीय साधना में वे सफल हो सके थे । परमहंस देव तो दिवंगत हो चुके थे । गिरीश को उनकी सहधर्मिणी श्रीमती शारदामणि इस संबंध में कुछ परामर्श दे सकती थीं ।

माँ शारदा परमहंस देव के बचे हुए काम को पूरा करने में जुटी हुई थीं । उनके लगाए हुए आम्र कुंज को वे अपनी स्नेह सुधा से सिंचित कर रही थीं । उसमें विवेकानंद जैसे कल्प-वृक्ष भी पनप रहे थे जिन्होंने विश्व को नव-जीवन प्रदान करने वाला पथ बताया । अपने हृदय को उन्होंने जगन्माता की तरह विस्तृत किया था । उनके स्नेह के मोल कितने ही शिशु अनायास बिक गए थे, जिनसे रामकृष्ण मिशन की स्थापना संभव हो सकी ।

गिरीश शारदामणि से मिलने के लिए जयराम बाटी पहुँचे । उन्होंने उनका इस तरह क्लांतिहारिणी मुस्कान तथा अपूर्व आत्मीयता से स्वागत किया मानों बरसों से बिछड़े हुए पुत्र को देखकर माँ आह्लाद से भर उठी हो । उनके चेहरे पर अपूर्व तेज, मुस्कान में जीवन भर का श्रम हर लेने वाली शक्ति, सादगी तथा स्वच्छता में फूलों की सी मधुरिमा देखकर गिरीश को ऐसा लगा कि धरती माँ की सी विभूतियाँ इस नारी कलेवर में आ एकत्रित हुई हैं ।

एक दिन के सान्निध्य में उन्होंने ऐसी स्वर्गीय अनुभूति पाई कि वे अपना मंतव्य कहना भूल ही गए । माँ शारदा ने अपने हाथों भोजन बनाकर उन्हें खिलाया । उनके गंदे कपड़े स्वयं धोये । अपने हाथों उनका बिस्तर बिछाया तथा स्वयं धरती पर एक चटाई बिछाकर बैठ गईं । अब गिरीश से नहीं रहा गया, वह पूछ बैठे-"माँ ! तुम इतना सब क्यों करती हो । मैं बिस्तर पर सोऊँ और तुम नीचे चटाई पर लेटो-क्या यह मुझे शोभा देता है ?"

"गिरीश ! तुम मेरे बेटे हो । माँ तो अपने बेटे के लिए सब कुछ सहने में भी सुख ही अनुभव करती है ।" बात चल पड़ी तो वह पूछ बैठे अपने मन की बात, संन्यासी बनने की बात । शारदामणि ने कहा-"अभी तक तुम समझे नहीं ? तुम क्या त्यागोगे ? क्या तुम जो यह काम कर रहे हो वह ईश्वर की भक्ति नहीं है ? अपने अहम् को इतना विकसित करो कि वह विश्व मानव को समेट ले । फिर तुम से कोई दुष्कर्म हो ही नहीं सकता । जो सुकृत्य तुम करोगे उससे ईश्वर की बगिया सुंदर-सुसज्जित बनेगी । यही तो सच्ची ईश्वर भक्ति है, सच्चा संन्यास है ।"

माँ शारदा ने जो मुँह से कहा वही वह अपने आचरण से पहले ही कह चुकी थीं । गिरीश उसी दिन से लोक-मंगल में जुट गए ।

निर्भीकता ही सच्चा धर्म है

बालक नरेन्द्र को अपने बचपन में एक खेल बड़ा ही प्रिय था । वह अपने साथियों को लेकर पास के एक बगीचे में चला जाया करता और घने पत्तों वाले आम के वृक्ष की एक मोटी डाली पर औंधा लटक जाता । साथी नीचे खड़े रहते और ढंग के खेल खेला करते । बगीचे का माली डरा कि कहीं नरेन्द्र उस पेड़ पर से गिर न जाय और हाथ-पाँव तोड़ न बैठे । सो उसने सब बच्चों को इकट्ठा कर कहा-"देखो तुम उस पेड़ के नीचे मत खेला करो । वहाँ एक ब्रह्म राक्षस रहता है । कभी वह नाराज हो गया तो तुम लोगों को खा जायेगा ।"

"ब्रह्म राक्षस क्या चीज होती है, बाबा"-नरेन्द्र ने जिज्ञासावश पूछा ।

"जो लोग किसी दुर्घटना में मारे जाते हैं या अपने बैरियों द्वारा बुरी तरह कत्ल कर दिये जाते हैं वे असमय में मरने के कारण भूत बन जाते हैं । असमय में मृत्यु

होने से उनकी आत्मा इधर-उधर भटकती रहती है और लोगों को परेशान किया करती है''-माली ने कहा ।

"तो उस पेड़ के नीचे कौन मारा गया था और कब-किसने उसकी हत्या की थी ।"

"यह तो मुझे नहीं पता बेटा ।"

"तो फिर तुम्हें कैसे पता है कि वहाँ ब्रह्म राक्षस रहता है ।"

"लोग कहते हैं ।"

"लोग कहते हैं तो, परंतु तुमने कभी उसे देखा है''-नरेन्द्र एक के बाद एक प्रश्न किए जा रहा था । इन प्रश्नों को सुनकर माली घबड़ा उठा क्योंकि वह एक प्रश्न का जबाव नहीं दे पाता था कि दूसरा प्रश्न तैयार मिलता । सो घबड़ा कर बोला-''नरेन्द्र तुमसे बातों में तो भगवान ही जीते । मैं तो केवल इतना कहे देता हूँ कि तुम उस पेड़ के नीचे मत खेला करो । कल को कुछ हो गया, ब्रह्म राक्षस ने तुम्हें कुछ कर दिया तो मैं नहीं जानता ।"

"अच्छा बाबा ! अच्छा ! नहीं खेलेंगे । इतना नाराज क्यों होते हो''-नरेन्द्र ने कहा और अपने साथियों के साथ वहाँ से भाग चला ।

उसी दिन शाम को नरेन्द्र घर से गायब । पहले तो परिवार वालों ने सोचा कि यहीं कहीं खेल रहा होगा । परंतु जब बहुत देर हो गयी तो चिंता हुई कि बच्चा बड़ा शरारती है, कहीं कोई दुर्घटना न हो गयी हो-यह भय सबको सताने लगा । खोजबीन हुई । नरेन्द्र के मित्रों के घर तलाश किया गया । बाल सखा तो सब चुपचाप सो गए थे । इतनी देर रात तक बच्चे जागते ही कहाँ हैं ? फिर भी उन्हें उठा-उठाकर पूछा गया कि नरेन्द्र को कहीं देखा था । सभी ने एक ही उत्तर दिया-कहीं नहीं । उन बाल सखाओं के अभिभावक भी चिंतित हो उठे क्योंकि चंचल और शरारती होने के कारण नरेन्द्र उन्हें भी अपने बच्चों के समान प्रिय था । इसलिए उनकी भी नींद जाती रही और वे भी खोजबीन में लग गए ।

नरेन्द्र के स्वभाव से परिचित किसी वृद्ध व्यक्ति पूछा-''क्या नरेन्द्र को किसी ने कोई काम करने से रोका था ?"

"नहीं तो । और रोकने से वह मानता भी कहाँ है ?''-नरेन्द्र के ही किसी निकट संबंधी ने कहा ।

लड़कों से पूछा गया तो उक्त घटना का पता चल गया और वृद्ध परिचित अंदाज में चलते हुए पहुँचे उसी बगीचे में और उसी आम के पेड़ तले जाकर रुके

जिसमें कि माली ने ब्रह्म राक्षस का निवास बताया था और आवाज लगायी- "नरेन्द्र ! ओ नरेन्द्र !"

"मैं यहाँ हूँ बापू !"-ऊपर से नरेन्द्र की आवाज आयी ।

"नीचे उतरो बेटा ! सब लोग कैसे परेशान हो रहे हैं ।" और नरेन्द्र जब नीचे उतरा तो उससे पूछा कि वहाँ क्या कर रहे थे । नरेन्द्र ने बताया-"ब्रह्म राक्षस की प्रतीक्षा । मैं उससे मिलना चाहता हूँ ।"

"चलो यार चलकर सोओ । यहाँ कोई राक्षस-वाक्षस नहीं रहता । माली ने तुमसे झूठ बोला था"-और नरेन्द्र को घर ले जाया गया । सत्य को जानने के लिए समर्पित यही निर्भीक जिज्ञासु आगे चलकर स्वामी विवेकानंद के नाम से विश्व विख्यात हुआ जिसने सब धर्मों का तत्व निचोड़ एक शब्द में कहा-"निर्भीकता ही सच्चा धर्म है ।"

संघर्ष से घबड़ाओ मत-सफलता चरण चूमेगी

अमरीका का प्रसिद्ध नगर शिकागो । सर्दी के दिन । व्यस्त राजमार्ग पर भी बहुत कम चहल-पहल नजर आ रही थी । जितने अमरीकी सड़क पर गुजरते हुए दिखाई भी देते, वे लंबा ऊनी कोट पहने और कैप लगाए थे । होटल और रेस्ट्रां खचाखच भरे थे । लोग गर्म चीजें खा-पीकर अपनी ठंड को भुलाने का प्रयास कर रहे थे ।

ऐसी ठंड में एक भारतीय संन्यासी बोस्टन से आने वाली रेलगाड़ी से शिकागो स्टेशन पर उतरा । कपड़े गेरुए रंग के थे । सिर पर पगड़ी बँधी थी जिसका रंग भी गेरुआ ही था । विचित्र वेशभूषा को देखकर अनेक यात्रियों की दृष्टि उस पर जम गयी । वह फाटक पर पहुँचा । लंबे चोगे की जेब से टिकिट निकाला और टिकिट कलेक्टर को देकर वह प्लेटफार्म से बाहर आ गया । उसे देखने वालों की भीड़ बढ़ती जा रही थी । भीड़ में से ही किसी ने पूछ लिया-"आप कहाँ से आए हैं ।"

"बोस्टन से, पर निवासी भारत का हूँ ।"

"यहाँ किससे मिलना है ।"

"डॉक्टर बैरोज से ।"

"कौन डॉक्टर बैरोज ।"

संन्यासी ने अपने चोगे की जेब में हाथ डाला पर हाथ खाली ही निकला ।

"क्यों ? क्या हुआ ?"

"मैं डॉक्टर बैरोज के नाम बोस्टन से प्रोफेसर जे० एच० राइट का एक पत्र लाया था । उसी पर पता लिखा था, पर वह कहीं रास्ते में गुम गया ।"

दर्शक उसकी बात को सुनकर हँसने लगे । भीड़ धीरे-धीरे छटने लगी । संन्यासी अब अकेला रह गया था । पास से निकलने वाले एक शिक्षित व्यक्ति को रोककर संन्यासी ने पूछा-"क्या आप मुझे डॉ० बैरोज के घर का पता बता सकते हैं ।"

वह अनसुनी करके अपनी आँखें मटकाता हुआ आगे बढ़ गया । संन्यासी स्टेशन की सीमा को पारकर राजमार्ग पर चलने लगा । उसकी दृष्टि दोनों ओर लगे साइन बोर्डों पर थी । शायद इन्हीं के बीच कहीं डॉ० बैरोज का भी बोर्ड दिखाई दे जाये ।

इतने में ही स्कूल से छूटे बच्चों के एक समूह ने उसे घेर लिया । बच्चों ने ऐसी रंगीन वेशभूषा वाला संन्यासी कभी देखा न था । आगे आगे संन्यासी और पीछे पीछे बच्चे शोर मचाते हुए चले जा रहे थे ।

ढूँढ़ते-ढूँढ़ते शाम हो गई । बिना पूरे पते के इतने बड़े शहर में किसी व्यक्ति से मिलना आसान कार्य न था । ठंड बढ़ने लगी । शीत लहर चलने लगी । संन्यासी के पास गर्म कपड़े तो थे नहीं । उसने दो दिन से भोजन भी न किया था । पास में एक भी पैसा नहीं । सोचा था शिकागो पहुँचकर वह डॉ० बैरोज का अतिथि बनेगा । पर कभी कभी सोचा हुआ काम कहाँ हो पाता है ?

उसे सामने एक बहुत बड़ा होटल दिखाई दिया । केवल रात काटनी थी । उसने होटल की ओर कदम बढ़ाये । सीढ़ियों पर चढ़ना था कि दरबान ने रोक दिया-"तुम कौन हो ?"

"मैं रात्रि में यहाँ विश्राम करना चाहता हूँ ।"

"नीग्रो लोगों के ठहरने के लिए इस होटल में स्थान नहीं ।"

"मैं भारतीय हूँ ।"

"तुम काले हो । काले लोगों के लिए इस होटल में स्थान नहीं"-दरबान ने बड़ी रुखाई से कहा ।

संन्यासी के बढ़े हुए चरण पुनः सड़क की ओर अनमने भाव से बढ़ने लगे । बरफ गिरने लगी । भूखा संन्यासी काँपने लगा । उसे लगा कि अब आगे एक कदम भी चलना मुश्किल है । आँखों के सामने अँधेरा छाने लगा । यदि वह आगे बढ़ा तो जमीन पर गिर जायेगा । पर क्या करता ? आगे बढ़ना ही तो उसके जीवन का एकमात्र लक्ष्य था ।

उसने देखा वह रेलवे माल गोदाम के पास आ गया है । उसी तरफ बढ़ता चला गया । गोदाम बंद हो चुका था । बाहर लकड़ी का एक बड़ा पैकिंग बॉक्स रखा था । पास जाकर देखा । बॉक्स खाली था । अंदर थोड़ी सी घास पड़ी थी । ऊपर ढक्कन रखा हुआ था । भोजन की तो कोई व्यवस्था हो न पायी पर ठंड से अपने शरीर की रक्षा तो करनी ही थी । वह अंदर की घास को एक तरफ करके उसमें उतर गया, ऊपर से ढक्कन खिसका लिया ।

रात भर बर्फीली हवा चलती रही । हवा जब तख्तों की संदों से अंदर प्रवेश करती तो संन्यासी काँप जाता था । जैसे-तैसे रात कट गयी । बॉक्स से संन्यासी बाहर निकला । शरीर सुन्न पड़ गया था । सड़क के एक किनारे पर बैठ गया और पूर्ण रूप से अपने को भगवत इच्छा पर छोड़ दिया । अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए एक संन्यासी हाथ फैलाने से तो रहा ।

वह जहाँ बैठे थे, अचानक उसके सामने के भवन का द्वार खुला । एक सुंदर स्त्री बाहर निकली । वह संन्यासी के पास आयी और पूछने लगी-"स्वामी जी ! यहाँ जो सर्व धर्म सम्मेलन होने जा रहा है, क्या आप उसमें भाग लेने पधारे हैं ? आपका परिचय क्या है ?"

"मेरा नाम विवेकानंद है । मैं भारत से इस सम्मेलन में भाग लेने आया हूँ । मुझे बोस्टन से डाक्टर बैरोज के नाम प्रोफेसर जे० एच० राइट ने एक पत्र दिया था । वह कहीं गुम गया । मेरे पास तो कोई परिचय पत्र भी नहीं है ।"

वह महिला स्वामी जी को बड़े सम्मान के साथ अपने घर ले गई । वहाँ उसने संन्यासी के लिए भोजन, गर्म कपड़ों तथा निवास की पूरी पूरी व्यवस्था की । दूसरे दिन सर्व धर्म सम्मेलन के कार्यालय में जाकर परिचय कराया ।

११ सितंबर १८९३ का दिन उस संन्यासी के जीवन में विशेष महत्व का दिन था । जब शिकागो के सर्वधर्म सम्मेलन में उनका भाषण हुआ, हजारों श्रोता

 (देखन में छोटे लगें

मंत्र मुग्ध हो गए । अब प्रत्येक अमरीका निवासी की जबान पर उन्हीं का नाम था । यह वह व्यक्ति था जो रात काटने के लिए एक दिन दर-बदर भटकता रहा और आज लोगों के हृदय में अपना स्थान बनाये हुए था । अनेक समाचार पत्रों के मुख्य पृष्ठ पर उनके भाषण छपने लगे । उसी नगर में स्थान-स्थान पर अनेक बड़े-बड़े चित्र लगाये गये जिसके नीचे मोटे मोटे अक्षरों में लिखा था-"स्वामी विवेकानंद ।"

सचमुच भारतीय धर्म और दर्शन की ध्वजा को देश की सीमा को पार कर सुदूर देशों तक पहुँचाने वाले स्वामी विवेकानंद की सेवाओं को भुलाया नहीं जा सकता ।

संन्यासी कौन ?

उन दिनों विवेकानंद भारत भ्रमण के लिए निकले हुए थे । इसी क्रम में घूमते हुए एक दिन हाथरस पहुँचे । भूख और थकान से उनकी विचित्र हालत हो रही थी । कुछ सुस्ताने के लिए वे एक वृक्ष के नीचे निढाल हो गए ।

अरुणोदय हो चुका था । उसकी सुनहरी किरणें स्वामी जी के तोजोद्दीप्त चेहरे पर पड़ कर उसे और कांतिवान बना रही थीं । इसी समय उधर से एक युवक निकला । स्वामी जी के आभावान चेहरे को देखकर ठिठका । अभी वह कुछ बोल पाता, इससे पूर्व ही उनकी आँखें खुलीं और एक मृदु हास्य बिखेर दिया । प्रत्युत्तर में युवक ने हाथ जोड़ लिये और आग्रह भरे स्वर में कहा-

"आप कुछ थके और भूखे लग रहे हैं । यदि आपत्ति न हो, तो चल कर मेरे यहाँ विश्राम करें ।"

बिना कुछ कहे स्वामी जी उठ पड़े और युवक के साथ चलने के लिए राजी हो गये ।

चार दिन बीत गए । नरेन्द्र अन्यत्र प्रस्थान की तैयारी करने लगे । इसी समय वह युवक उनके समक्ष उपस्थित हुआ । चल पड़ने को तैयार देखकर उसने पूछ लिया -

"क्या अभी इसी समय प्रस्थान करेंगे ?"

"हाँ इसी वक्त ।" उत्तर मिला ।

"तो फिर मुझे भी संन्यास दीक्षा देकर अपने साथ ले चलिए, मैं भी संन्यासी बनूँगा ।" स्वामीजी मुस्करा दिये, बोले-"संन्यास और संन्यासी का अर्थ जानते हो ?" "जी हाँ, भलीभाँति जानता हूँ । संन्यास वह जो मोक्ष की ओर प्रेरित करे और संन्यासी वह जो मुक्ति की इच्छा करे ।"

"किसकी मुक्ति ?" "स्वयं की, साधक की ।" तत्क्षण उत्तर मिला ।

स्वामीजी खिलखिलाकर हँस पड़े, बोले-"तुम जिस संन्यास की चर्चा कर रहे हो, वह संन्यास नहीं, पलायनवाद है । संन्यास न कभी ऐसा था, न आगे होने वाला है । तुम इस पवित्र आश्रम को इतना संकीर्ण न बनाओ । यह इतना महान व शक्तिशाली है कि जब कभी इसकी आत्मा जागेगी, तो बम की तरह धमाका करेगी । तब भारत, भारत (वर्तमान दयनीय भारत) न रहकर, भा-रत (आभायुक्त), महाभारत, विशाल भारत बन जाएगा और एक बार पुनः समस्त विश्व इसके चरणों में गिर कर शांति के संदेश की याचना करेगा । यही अटल निर्धारण है । ऐसा होने से कोई भी रोक नहीं सकता । अगले ही दिनों यह होकर रहेगा । मैं स्पष्ट देख रहा हूँ कि भारत के युवा संन्यासी इस मुहिम में पूर्ण निष्ठा के साथ जुट पड़े हैं और अपनी सम्पूर्ण क्षमता लगाकर इसे मूर्तिमान करने में कुछ भी कसर उठा नहीं रख रहे हैं । इनके प्रयासों से भारत की आत्मा को जगते मैं देख रहा हूँ और देख रहा हूँ उस नवविहान को, जिसकी हम सबको लंबे समय से प्रतीक्षा है ।"

तनिक रुक कर उन्होंने पुनः कहना आरंभ किया-"यह वही संन्यास है, जिसकी सामर्थ्य को हम विस्मृत कर चुके हैं, जिसके दायित्व को भूला चुके हैं । इसका तात्पर्य आत्म-मुक्ति कदापि नहीं हो सकता । यह स्वयं में खो जाने की, अपने तक सीमित होने की प्रेरणा हमें नहीं देता, वरन् आत्म विस्तार का उपदेश करता है । यह व्यक्ति की मुक्ति का नाम नहीं, अपितु समाज की, विश्व की, समस्त मानव जाति की मुक्ति का पर्याय है । यह महान आश्रम अपने दो महान परम्पराओं को साथ लेकर चलता है-साधु और ब्राह्मण की । साधु वह, जिसने स्वयं को साध लिया । ब्राह्मण वह, जो विराट् ब्रह्म की उपासना करता हो, उसी की स्वर्ग-मुक्ति की बात सोचता हो । तुम्हारा संन्यास गुफा-कंदराओं तक, एकांतवास तक परिमित है, किन्तु हमारा संन्यास जन-संकुलता का नाम है ।"

वाणी कुछ क्षण के लिए रुकी, तत्पश्चात् पुनः उभरी-"बोलो ! तुम्हें कौन सा

संन्यास चाहिए ? एकांत वाला आत्म-मुक्ति का संन्यास या साधु-ब्राह्मणों वाला सर्व-मुक्ति का संन्यास ?"

युवक स्वामीजी के चरणों में गिर पड़ा, बोला-"नहीं, नहीं मेरा आत्म-मुक्ति का मोह भंग हो चुका है । मुझे ऐसा संन्यास नहीं चाहिए । मैं समाज की स्वर्ग-मुक्ति के लिए काम करूँगा । देखा जाय तो समाज-मुक्ति के बिना व्यक्ति की अपनी मुक्ति भी संभव नहीं ।"

युवक के इस कथन पर स्वामीजी ने सिर हिलाकर सहमति प्रकट की । एक क्षण के लिए दोनों के नेत्र मिले मानों प्राण-प्रत्यावर्तन की प्रक्रिया चल पड़ी हो । फिर उसे गुरु ने उठाकर गले से लगा लिया और कहा-"आज से तुम शरत्चंद्र गुप्त नहीं, स्वामी सदानंद हुए ।" गुरु-शिष्य दोनों उसी समय आगे की यात्रा पर प्रस्थान कर गए ।

माँ के आभूषण

उन्नीसवीं शताब्दी अपनी अंतिम सांसें गिन रही थी और गिन रहा था अपने जीवन के आखिरी साल एक वयोवृद्ध बंगाली । नाम था उसका ठाकुरदास और परिवार में केवल एक बच्चा तथा पत्नी थे । इस सीमित परिवार का भरण-पोषण भी ठीक प्रकार से न हो पाता था । ठाकुरदास दो रुपये माहवार की नौकरी करते थे और उसी से अपने परिवार का गुजारा तथा लड़के का खर्च चलाते थे ।

पहले तो ठाकुरदास को कलकत्ता की गलियों और सड़कों पर भटकना पड़ा । कभी भोजन का प्रबंध हो जाता था, कभी दोनों वक्त का और कभी कभी एक ही वक्त का । ऐसे भी कई असवर आये थे जबकि घर में किसी के मुँह में एक रोटी तो दूर एक दाना भी नहीं पहुँच पाया । माँ व्यथित, पिता परेशान और पुत्र का भविष्य अनिश्चित ।

आशा की एक ही किरण थी, कभी तो भगवान सुनेगा और अभी वह किरण उदित होने का समय नहीं आया था शायद । लेकिन फिर भी बड़े धैर्य के साथ दोनों पति-पत्नी प्रतीक्षा कर रहे थे । पुत्र तो अभी समझने लायक भी नहीं था ।

प्रतीक्षा की घड़ियाँ समाप्त हुईं तो नियति ने उन्हें मेदिनीपुर जिले के एक गाँव में ला पटका। वहाँ ठाकुर दास को दो रुपये माहवार की नौकरी मिली। कुछ भी नहीं तो उससे यह थोड़ा ही अच्छा-यह भाव भी नहीं आया। आया परिवार में एक उत्सव का सा उल्लास और माता, पिता तथा पुत्र तीनों को यह लगा कि अभी नहीं तो कभी भी किरण फेंकने वाला सूरज भी उगेगा। कब? यह तो कुछ निश्चित नहीं था पर कभी तो उगेगा ही इस पर जैसे तीनों को पूरा विश्वास था।

इसी उल्लास में बरसों बीत गए और एक दिन रात के समय बेटे ने अपनी माँ के पैर दबाते हुए पूछा-"माँ ! मेरी इच्छा है कि मैं पढ़ लिखकर बहुत बड़ा विद्वान बनूँ और तुम्हारी खूब सेवा करूँ।"

"कैसी सेवा करेगा।"-बेटा पढ़ने लगा था इसलिए कुछ मन बहलाते हुए प्रोत्साहन के स्वरों में माँ ने पूछा।

"माँ ! तुमने बड़ी तकलीफ में दिन गुजारे हैं। मैं तुम्हें अच्छा अच्छा खाना खिलाऊँगा और बढ़िया कपड़े लाऊँगा, हाँ"-बेटे को जैसे कुछ याद आया-"तुम्हारे लिए गहने भी बनवाऊँगा।"

"हाँ बेटा ! तू जरूर सेवा करेगा मेरी"-माँ बोली-"पर गहने मेरी पसंद के ही बनवाना।"

"कौन से गहने माँ !"

"मुझे तीन गहनों की बड़ी चाह है"-माँ ने बताया और गहनों के विवरण देने लगी-"पहला गहना तो यह है कि इस गाँव में कोई अच्छा स्कूल नहीं है। तुम एक स्कूल बनवाना। और यहाँ दवाखाने की कमी है तुम एक दवाखाना भी खुलवाना तथा तीसरा गहना यह है कि गरीब एवं अनाथ बच्चों के लिए रहने-खाने तथा शिक्षा प्राप्त करने की व्यवस्था करना।"

बेटे ने भावाभिभूत होकर माँ के चरणों में मस्तक रख दिया और तभी से उसे कुछ ऐसी धुन सवार हुई कि वह अपनी माँ के लिए ये तीन गहने बनवाने हेतु जी तोड़ मेहनत करने लगा। खूब पढ़ा-लिखा और विद्वान बन गया तथा कई एक महत्वपूर्ण पदों पर नियुक्त होकर काम भी किया जिनके वेतन में अच्छी-खासी रकम मिलती थी। पर उसे अपनी माँ के इन तीन गहनों का सदैव ध्यान रहा और वह बराबर स्कूल, औषधालय तथा सहायता केन्द्र खोलता चला गया।

यही नहीं आगे चलकर स्त्री शिक्षा तथा विधवा विवाह के गहने भी अपनी माँ को चढ़ाये । इन असाधारण गहनों को आजीवन बनवाते रहने वाला यह महामानव और कोई नहीं पं० ईश्वर चंद्र विद्यासागर ही थे जिनकी स्मृति में अब मेदिनीपुर जिले के उसी गाँव में विश्वविद्यालय खुलने जा रहा है ।

रोटियाँ श्रम की खाओ

'मनुष्य जितना कमाये, उतना ही खाये'-इस आदर्श को उन्होंने अपने जीवन में भी उतारा । अन्य दिनचर्याओं की भाँति ही वह इस नियम का भी कड़ाई से पालन करते थे । वे परिश्रम की ही कमाई खाते थे ।

उन दिनों वे आश्रम में रहते थे । सूत कातने से जो कुछ मिलता था उतने से ही भोजन व्यवस्था हो पाती थी । १५ दिन से भी अधिक हो गए सूत के उतने ही पैसे मिल पाते थे जितने से वे मुश्किल से उबले हुए चने या अरहर की दाल ले सकते थे । आश्रम में चौके की व्यवस्था थी, लोगों ने आग्रह किया-"कई दिनों से पूरी खुराक न मिलने से आपका स्वास्थ्य कमजोर हो गया है आप चौके में भोजन ले लिया कीजिए ।" पर वे अपने व्रत से टस से मस न हुए । 'कमाई में समाई' की जो पगडंडी उन्होंने निकाली थी उसी राजपथ पर शान के साथ चलते रहे ।

इस कड़ाई के पीछे उनका उद्देश्य यह था कि मनुष्य परिश्रम से आजीविका उत्पन्न करे । हराम का खाना मनुष्य की शारीरिक ही नहीं बौद्धिक शक्तियों को भी पंगु बना देता है जिससे वह अधोगति की ओर उन्मुख हो उठता है । अपने जीवन की दिशा को ऊर्ध्वगामी बनाये रखने के लिए ही उन्होंने यह व्रत लिया था । परिश्रम की कमाई ही वे सदैव अपने उपयोग में लाते थे ।

लोग समझते थे यह उनकी आश्रमवासियों को शिक्षा देने की सूझ मात्र है पर एक दिन उनकी कसौटी का समय भी आया । दक्षिण अफ्रीका के एक सत्याग्रह आंदोलन में गिरफ्तार करने के बाद उन्हें सपरिश्रम कारावास का दंड दिया गया । वे जोहान्सबर्ग की जेल भेज दिए गए ।

साथी कैदी जेल अधिकारियों द्वारा दिए गए काम उपेक्षा के साथ करते थे पर

तब भी वह महापुरुष अपने व्रत का नियम पूर्वक पालन करते थे । उन्हें जो काम दिया जाता था उसे तो वे ईमानदारी और परिश्रम से पूरा करते ही थे ।

एक दिन उन्होंने समय से पहले अपना काम खत्म कर लिया । दूसरा काम न देखकर पुस्तक पढ़ने लगे । वार्डर ने टोका-"आप यह क्या कर रहे हैं ।" उन्होंने कहा-"भाई, समय को निरर्थक नहीं जाने देना चाहिए । आप कुछ काम दें तो पढ़ना बंद कर दूँ ।"

सिपाही ने कहा-"अच्छा कोई बात नहीं, अभी तो आप शौक से पुस्तक पढ़ें पर आज गवर्नर का इन्स्पेक्शन (निरीक्षण) होने वाला है जब वे आयें तो आप स्टोर पर रहना ।"

उन्होंने बात मान ली । गवर्नर आए और उनसे पूछा-"आपको यहाँ कोई तकलीफ तो नहीं है ?" उन्होंने तत्काल उत्तर दिया-"और तो सब ठीक है पर यहाँ मेरे लिए काम का अभाव है । आप कोई ऐसी व्यवस्था करा दीजिए जिससे मुझे काफी समय काम करने को मिल जाया करे ।"

गवर्नर बड़ा हैरान हुआ-जेल में भी इन्हें काम की शिकायत है । उसने कहा-"जब दूसरे लोग यहाँ काम से जी चुराते हैं तब आपको परिश्रम से इतना प्रेम क्यों है ।"

उन्होंने कहा-"मैं अपनी जीवन-शक्ति को बरबाद नहीं करना चाहता इसीलिए परिश्रम को मैं अपना मुख्य धर्म मानता हूँ । जो लोग परिश्रम से जी चुराते हैं जेल में या जेल के बाहर वह अपनी शक्तियों को जंग ही लगाते हैं । काम न करने से उत्साह चला जाता है, स्वास्थ्य गिरता है, प्रसन्नता नहीं रहती । यह सब दीर्घायु के शत्रु हैं । मुझे बहुत काम करने हैं इसलिए दीर्घजीवन भी तो आवश्यक है । नैतिक प्रवृत्तियों को जागृत रखने के लिए ही मुझे काम से प्रेम है और उसे सदैव चिरस्थायी रखना चाहता हूँ ।"

गवर्नर इस कथन से बड़ा प्रभावित हुआ । आप समझ गए होंगे, यह व्यक्ति और कोई नहीं पू० महात्मा गाँधी थे ।

निर्धन बालक की बापू को भेंट

"मैं बापू से मिलना चाहता हूँ ।"

"क्यों ?"

"सुना है वह अस्वस्थ हैं । अतः उन्हें भेंट में कुछ देने लाया हूँ ।"

"उन्हें चिकित्सकों ने पूर्ण विश्राम करने की सलाह दी है । अतः उनसे किसी को मिलने नहीं दिया जाता"-सरोजनी नायडू ने समझाते हुए कहा ।

"पर मैं दो मील पैदल चलकर बापू के दर्शन करने आया हूँ । ऐसी स्थिति में क्या मुझे निराश ही लौटना होगा"-बालक ने अनुनय-विनय करते हुए कहा ।

"अच्छा यह तो बता कि तेरी इस पोटली में क्या है ?"

"इसमें कुछ ताजे और मीठे बेर हैं । बापू के लिए लाया हूँ । सुना है मलेरिया बुखार के कारण वह काफी अधिक कमजोर हो गए हैं ।"

"हाँ, तेरी बात ठीक है वत्स ! १९४२ के आंदोलन में बापू को पूना के पास आगा खाँ महल में रखा गया था । वहीं वह अस्वस्थ हो गए और दुर्बल अवस्था में उन्हें रिहा कर दिया गया । यहाँ उनकी देखभाल का उत्तरदायित्व मेरे ऊपर ही है । बेटे ! यह तो बताओ कि यह बेर किसी से माँगकर लाये हो अथवा खरीद कर ?"

बालक ने माँगकर लाने की बात सुनी तो उसका स्वाभिमान भड़क उठा । उसने कहा-"माताजी ! मेरे माता-पिता भीख नहीं माँगते और न उन्होंने मुझे भीख माँगने की शिक्षा दी है । हम तीनों ही मेहनत-मजदूरी करते हैं और पसीने की रोटी खाकर अपना गुजारा करते है ।"

"तो यह बेर खरीदने के लिए पैसे कहाँ से लाया ?"

"कोई चोरी थोड़े ही की है । मेहनत की कमाई से इन फलों को खरीद कर लाया हूँ । दिन में अपने स्कूल पढ़ने जाता हूँ और सुबह-शाम एक बगीचे में माली के साथ काम करता हूँ । इस बार सप्ताह भर की जो मजदूरी मिली उसका उपयोग इन बेरों को खरीदने में कर लिया ।" अब उस बालक की आँखों में श्रम के गौरव की चमक थी ।

"तब तू बड़ा अच्छा लड़का है । बापू ऐसे बालकों को बहुत प्रेम करते हैं । मैं तुम्हें एक शर्त पर जाने की आज्ञा दे सकती हूँ कि यह फल बापू को देकर प्रणाम करके वापस आ जाना । उनसे बातचीत बिल्कुल भी न करना ।"

बालक ने स्वीकृति के लिए अपना सिर हिलाया और चल पड़ा बापू के कमरे की ओर । उसका उत्साह ठंडा पड़ गया था । सोचता जा रहा था बापू कितने महान् हैं और उनके साथ रहने वाले लोग कैसे हैं ? क्या इन्हीं व्यक्तियों को बापू के स्वास्थ्य की चिंता है ? वह तो राष्ट्र की धरोहर हैं । प्रत्येक व्यक्ति उनकी अस्वस्थता से चिंतित है । उनके साथ रहने वाली यह देवी जी शायद मुझे इसलिए दुत्कार रही होंगी कि मैं निर्धन मजदूर का बेटा हूँ । मेरे वस्त्र फटे और मैले हैं । क्या इसीलिए निर्धन भिखारी और चोर समझा जाता है । लोग भले ही कुछ समझें पर मेरा परिवार तो ईमानदारी के मार्ग पर चलता है । गाँधीजी के कमरे में प्रवेश करने तक इस तरह की कितनी ही बातें उसके दिमाग में आईं और चली गईं ।

अब उसने अपने को बापू के सामने खड़ा पाया । उसने बापू के चेहरे पर बिखरी हुई ममता के दर्शन किये । उसे बड़ी शांति का अनुभव हुआ । उसने अपने फल की पोटली उनके चरणों के पास खोलकर प्रणाम किया और उल्टे पैर लौट पड़ा बाहर निकलने के लिए ।

बापू ने लेटे-लेटे ही धीमे स्वर में कहा-"बच्चे ! लौटने की इतनी जल्दी क्या है ? यह बेर तुम क्यों लाये हो ? यह तो तुम्हारे खाने की चीज है ?"

बालक चुप रहा ।

"तुम्हारा क्या नाम है ? तुम यह बढ़िया वाले बेर कहाँ से लाये हो ? तुम्हें दरवाजे पर किसी ने रोका तो नहीं ?"

प्रश्न अनेक पर उत्तर एक भी नहीं । गाँधीजी ने सोचा, कहीं यह बालक गूँगा तो नहीं है । उन्होंने बड़े मधुर स्वर में पूछा-"क्या तुम्हें बोलने में कुछ कठिनाई होती है । इसीलिए मेरी किसी बात का उत्तर नहीं दे रहे हो ।"

"नहीं बापू ! मैं गूँगा नहीं हूँ । द्वार पर जो माताजी बैठी हैं उन्होंने मुझसे वचन ले लिया है कि मैं आपसे बिना बातचीत किए ही प्रणाम करके लौट आऊँ । इसी शर्त पर मुझे आपके दर्शन करने का सौभाग्य मिला है ।"

"अच्छा ! यह बात है तो इतने सारे बेर मेरे लिए क्यों लाया ?"

"मेरे पिताजी बातों-बातों में कई बार कहा करते हैं कि यदि रोगी को ताजे फल खाने को मिलें तो उसका स्वास्थ्य जल्दी ठीक होता है । इसीलिए इतने बेर लेकर आपकी सेवा में आया हूँ ।"

गाँधीजी ने फलों की तरफ एक दृष्टि डालकर कहा-"वास्तव में फल बहुत अच्छे हैं । तेरे प्रेम की मिठास ने इन फलों को और मीठा कर दिया होगा । मैं

तेरे फल अवश्य लूँगा पर यह बहुत हैं, तू आधे फल लेता जा और आधे मैं खा लूँगा।"

"नहीं बापू ! मैं एक भी फल न खाऊँगा। इस बार तो सारे बेर आपको ही खाने होंगे। आपका स्वास्थ्य खराब है और शीघ्र ही आपको राष्ट्र सेवा के लिए तैयार होना है।"

बापू अपने देश के एक निर्धन बालक की बातें सुनकर गद्‌गद् हो गए। वह बड़े गौरव का अनुभव करने लगे। जिस देश के बच्चे इतने भावनाशील हैं फिर उस देश को अधिक समय तक परतंत्रता की बेड़ियों में जकड़कर नहीं रखा जा सकता।

गाँधीजी ने एक बड़ा सा बेर छाँटकर उसे देते हुए कहा-"मैं तुम्हारी बात मानता हूँ पर यह बेर तो तुम्हें लेना ही होगा।"

गाँधीजी के आग्रह को वह बालक कैसे टालता। उसने प्रसाद समझकर उनसे ले लिया। चलते समय झुककर प्रणाम किया। बापू ने पीठ थपथपाकर प्यार से आशीर्वाद देते हुए कहा-"बेटे ! परिश्रम की कमाई से खरीदी हुई इस भेंट का मैं सहर्ष स्वागत करता हूँ और मेरी दृष्टि में इसका अत्यधिक महत्व है।"

बापू के जीवन की तीन प्रेरक घटनाएँ

उपवास की खुशी

स्वतंत्रता मिलते ही देश विभाजन के कारण हिंदू-मुसलमान एक दूसरे के खून के प्यासे हो गए। गाँधीजी तक इन घटनाओं की सूचना प्रतिदिन पहुँचा करती थी। इन अनर्थकारी प्रवृत्तियों को रोकने के लिए उन्होंने उपवास करने की ठानी और उस निश्चय को तुरंत अमल में लाना शुरू कर दिया।

उपवास आरंभ करने के बाद गाँधीजी अक्सर प्रसन्न दिखाई दिया करते। एक बार कार्यकर्त्ताओं ने उनसे पूछ ही लिया-"बापू ! आप उपवास के बाद एकदम प्रसन्न क्यों रहने लगे जबकि कई लोग तो उपवास आरंभ करते ही अपने चेहरे पर मुर्दनी लपेट लिया करते हैं।"

गाँधीजी ने इसका उत्तर देते हुए कहा-"उपवास करने से पहले मैं केवल

अन्याय की बातें सुनता और सुनकर चुप हो जाया करता था । जब मुझमें अन्याय का विरोध करने की शक्ति आ गयी तो मैंने अनीति का विरोध करने के लिए कमर कस ली और यही प्रसन्नता का कारण है ।"

वत्सल प्रेम

गाँधीजी के आश्रम में कुछ लड़के भी रहा करते थे । उनमें से एक लड़का गौशाला में सोया करता था । उसके पास कोई बिस्तर भी नहीं था । गाँधीजी एक बार घूमते हुए गौशाला की ओर गए तो उनकी निगाह उस लड़के पर पड़ी । वह सो रहा था । गाँधीजी ने लड़के से पूछा-"तू रात में भी यहीं सोता है ।"

लड़के ने कहा-"हाँ बापू !"

"और रात में ओढ़ता क्या है ?"

लड़के ने अपनी फटी चादर दिखा दी । गाँधीजी ने फिर कहा-"इसमें तुझे जाड़ा नहीं लगता क्या ?"

"लगता तो है बापू"-लड़के का उत्तर था ।

यह सुनकर गाँधीजी तत्काल अपनी झोंपड़ी में लौट आये । बा की दो पुरानी साड़ियाँ लीं ।-पुराने अखबार तथा थोड़ी सी रूई मँगवाई । बा भी उनके पास आ बैठीं और वे भी गाँधीजी का सहयोग करने लगीं । बा की सहायता से उन्होंने थोड़ी ही देर में खोल सी डाला । अखबार के मोटे कागज तथा रुई भरकर दोनों ने मिलकर कुछ ही घंटों में गुदड़ी तैयार कर ली और खुद ही उस लड़के को जाकर दे आये ।

दूसरे दिन सुबह फिर गाँधीजी गौशाला गए । लड़के से पूछा-"रात कैसी नींद आयी ।"

"बहुत मीठी नींद आयी बापू रात तो"-लड़के ने कहा । तब कहीं जाकर बापू को संतोष हुआ ।

ईश्वर के ही दर्शन

घटना सन् १९२३ की है । उस वर्ष खूब पानी गिरा और साबरमती में बाढ़ आ गयी । नदी तट पर ही गाँधीजी का आश्रम था सो पानी बड़ी तेजी से आश्रम की ओर बढ़ने लगा । अहमदाबाद से सरदार पटेल ने सूचना भिजवायी कि सभी लोग आश्रम छोड़कर शहर में आ जायें, सवारियाँ भेजी जा रही हैं ।

बापू न जाने क्यों विचार में पड़ गये । घंटा बजाकर आश्रमवासियों को एक स्थान पर एकत्रित होने की सूचना दी गयी । पानी आश्रम की सीढ़ियों पर चढ़ने लग गया था ।

सभी इकट्ठे हुए तो गाँधीजी ने कहा-"भगवान के काल रूप का हम सभी दर्शन कर रहे हैं । साथ ही आश्रम खाली करने की सूचना भी आ गयी है । जो लोग शहर जाना चाहें जा सकते हैं । पर मैं तो भगवान के दर्शन इस रूप में भी करूँगा ।"

बापू के वहीं रहने का निश्चय सुनकर आश्रमवासियों ने भी उनके साथ रहते हुए ईश्वर के काल रूप का दर्शन किया और लपलपाकर लीलने को बढ़ रही बाढ़ धीरे-धीरे उतर गयी ।

काम कोई छोटा नहीं होता और न ही बड़ा

घटना सन् १९०९ की है । उस समय महात्मा गाँधी अफ्रीका में थे । भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के रंगमंच पर अभी उनका अवतरण नहीं हुआ था फिर भी रंगभेद की नीति के खिलाफ उन्होंने सत्याग्रह का शस्त्र खोज लिया था और इस शस्त्र का सफलतापूर्वक उपयोग करने के कारण वे देश-विदेश में चर्चित हो गए थे ।

उन दिनों वे लंदन गए हुए थे । लंदन में ही कुछ भारतीय नवयुवक भी पढ़ रहे थे । उन्होंने जब सुना कि बिना हथियार के लड़ने वाला और लड़ाई में जीतने वाला एक अद्भुत भारतीय सेनानी यहाँ आया हुआ है तो बरबस ही उनकी आकांक्षा इस अद्भुत सेनानी को अपने बीच बुलाने की हुई ।

युवा छात्रों के कुछ प्रतिनिधि गाँधीजी से मिले और उन्होंने भारतीय छात्रों की आकांक्षा के संबंध में उन्हें बताते हुए जलसे का सभापतित्व करने का आग्रह किया । सिद्धांत और व्यवहार में पूर्णतया स्पष्ट गाँधीजी ने जलसे में आना तो स्वीकार कर लिया पर अपनी एक शर्त भी रखी कि जलसे में जो भोज दिया जाय उसमें मांस का जरा भी प्रयोग न हो और न ही शराब का । भोज में अतिथियों और

छात्रों को शुद्ध निरामिष और सात्विक भोजन ही परोसा जाय।

गाँधीजी की शर्त मान ली गयी और कार्यक्रम की रूपरेखा निर्धारित की गयी।

एक हॉल किराये पर लिया गया। सब आवश्यक चीजें खरीदी गयीं और भारतीय छात्र स्वयं ही भोजन बनाने में जुट गए। किसी ने बर्तन सम्हाले तो किसी ने चूल्हा। कोई सब्जी काटने लगा तो कोई पकवान बनाने लगा।

उन्हीं के बीच एक दुबला-पतला भारतीय भी था जो दौड़-दौड़ कर काम कर रहा था। यह भारतीय थालियाँ माँज रहा था। अपराह्न से जब भोजन बनना शुरू हुआ तो उसी समय से वह भारतीय बर्तन माँजता रहा। एक काम से कोई थाली निवृत्त होती तो दूसरे काम में उसका प्रयोग करने के लिए उसी भारतीय के पास रख दी जाती और वह बड़ी तन्मयतापूर्वक बिना सिर उठाये अपने काम में लगा रहा।

जब भोजन बनकर तैयार हो गया तो आगंतुक छात्रों ने भोजन किया। जिन छात्रों ने इस भोज की व्यवस्था का दायित्व सम्हाला था, भोजन परोसने और जूठी थालियाँ उठाने का काम भी उन्हीं के सुपुर्द था। वे जूठी थालियाँ उठाकर लाते और बर्तन माँजने वालों के सम्मुख रख जाते ताकि उनकी सफाई की जा सके।

बेशक अब सफाई करने में और भी छात्र जुट गए थे और काम तीव्रता के साथ हो रहा था। जब सभी लोग भोजन कर निवृत्त हो गए तो उप प्रधान ने आकर स्वयंसेवी कार्यकर्त्ताओं से भोजन करने के लिए कहा।

उस समय उप प्रधान जब बर्तन साफ कर रहे छात्रों के पास आये तो उस भारतीय को देखकर दंग रह गए। वह भारतीय युवक कोई और नहीं स्वयं गाँधीजी ही थे।

"गाँधीजी"-उपप्रधान ने कहा-"आप यह क्या कर रहे हैं ?"

आसपास खड़े लोग गाँधीजी को अपने बीच इस प्रकार पाकर दंग रह गए। सभा में उपप्रधान ने गाँधीजी से क्षमा माँगी कि अपरिचय के कारण वे यह काम करते रहे और छात्रों ने उन्हें रोका तक नहीं।

बाद में गाँधीजी ने अपने भाषण में उपप्रधान की उन बातों को अकारण खेद मनाना कहते हुए कहा-"काम कोई छोटा नहीं होता और न ही बड़ा। हम लोग अपने परिवार में भी तो यह काम करते हैं। वहाँ तो कोई किसी काम को छोटा-बड़ा नहीं मानता फिर आप क्यों व्यर्थ दुःखी हो रहे हैं।"

आदत को व्यवस्थित बनाये रखना

महात्मा गाँधी के जीवन से व्यक्तियों ने जीवन के अनेक क्षेत्रों में प्रेरणा ली है । महात्मा का जीवन एकांगी नहीं सर्वांगीण होना चाहिए । श्रेष्ठ व्यक्ति के जीवन की छोटी घटनायें भी जीवन के महत्वपूर्ण सिद्धांतों का प्रतिपादन करती हैं । महात्मा गाँधी का जीवन क्रम भी कुछ ऐसा ही ढला था । प्रस्तुत छोटी सी घटना भी इसी प्रकार अपने आप में महत्वपूर्ण शिक्षा लिए हुए है ।

गाँधीजी इलाहाबाद गए थे । वहां वह 'आनंद भवन' में मेहमान के रूप में ठहरे हुए थे । उनके कार्य निर्धारित समय पर हुआ करते थे । दैनिक कार्यों के बीच भी जहाँ संभव होता था वह बातचीत, परामर्श आदि के द्वारा लोगों को लाभान्वित किया करते थे । प्रात:कालीन दतौन, कुल्ला, मुँह धोने के समय भी उक्त क्रम चलाने की सुविधा रहती थी । अस्तु पं० जवाहर लाल नेहरू बापू से चर्चा करने उस समय पहुँच गए । बापू हँसते-बात करते हुए अपना दैनिक कार्य भी करते जा रहे थे ।

अचानक बापू बोल पड़े-"अरे राम, राम ! भाई जवाहर ! तुमने बातचीत में गड़बड़ करा दी ।" जवाहर लाल जी प्रश्न भरी दृष्टि से बापू की ओर देखने लगे । उन्हें कोई गड़बड़ी के चिह्न कहीं दिख नहीं रहे थे । बापू कहीं परिहास तो नहीं कर रहे हैं ? किन्तु बापू के चेहरे पर गंभीरता आ गई थी । हाथ में खाली लोटा लिए उनकी ओर देखते हुए बोले-"तुम्हारी बातचीत में मैं पानी का ध्यान भूल गया और मुँह पूरा धुलने के पूर्व सारा पानी समाप्त हो गया ।"

इतना सुनते ही जवाहर लाल जी खुलकर हँस पड़े, बोले-"बापू ! आप भी कमाल करते हैं । आप गंगा-यमुना के तट पर बैठे हैं कहीं रेगिस्तान में थोड़े ही हैं । यहाँ पानी की क्या कमी है जो आप एक लोटा पानी की सोच करते हैं ।" सामान्य दृष्टि से बात ठीक ही थी । घटना को देखते हुए इतनी छोटी सी बात को महत्व देना बचपना ही कहा जावेगा । किन्तु इस घटना को स्थूल दृष्टि से देखने पर ही ऐसा प्रतीत होता है । श्रेष्ठ व्यक्तियों का दृष्टिकोण घटनाओं को देखने का और ही होता है जिसे समझकर अपने को समझदार समझने वालों को अपनी विचारहीनता का पता लग जाता है ।

बापू नेहरू जी की बात सुनकर और गंभीर हो गए । बोले-"अन्य कोई न समझे किन्तु तुम में तो मेरे दृष्टिकोण को समझने की क्षमता होनी ही चाहिए ।"

नेहरू जी का हास्य रुक गया । वह जिज्ञासु की तरह सुनने को तत्पर हो गए । बापू बोले-"मैं एक लोटा पानी से रोज मुँह धो लेता हूँ, आज अधिक लेना पड़ा तो कुछ बड़ी बात नहीं । किन्तु यदि इस वृत्ति की उपेक्षा की और अपनी असावधानी की आदत को बढ़ने दिया तो जीवन में वह सभी स्थानों पर हस्तक्षेप करेगी । निर्धारित मात्रा में पानी से मुँह न धो सकना बढ़ती हुई असावधानी का प्रतीक है । इसी नाते वह चिंतनीय है । अपने दुर्गुणों पर कड़ी निगाह रखना विकास के लिए आवश्यक है ।"

बात नेहरू जी की समझ में आई । किन्तु बापू की बात अभी पूरी नहीं हुई थी, बोले-"जवाहर ! तुमसे एक सैद्धांतिक भूल और भी हुई है । बताओ क्या ?" जवाहर लाल जी पुनः चुप रह गए । बापू ने पुनः स्पष्ट किया-"हमने पानी समाप्त होने को क्यों महत्व दिया, यह न समझ पाना एक बात थी । मुँह धोने के लिए और पानी की आवश्यकता स्वाभाविक थी । किन्तु यह कहना कि पानी की कमी नहीं है अतः खर्च अनियंत्रित किया जावे, भूल है । कोई वस्तु हमारे पास ईश्वर की कृपा से प्रचुर मात्रा में है, इसी कारण हम उसके व्यय करने की कोई सीमा न बनायें यह भारी भूल है । व्यवस्था संतुलित उपयोग से बनती है । संतुलन प्रकृति का नियम है । समृद्धि के नाम पर असंतुलित होने का अर्थ है अभाव को निमंत्रण देना । अपनी संतुलित आवश्यकता से अधिक व्यय करना अनैतिक है । श्रेष्ठ व्यक्ति के लिए अशोभनीय है ।"

जवाहर लाल जी का समाधान हो गया । बापू के यही गुण थे जिनने बड़ी संख्या में योग्य समाज-सेवी पैदा कर दिए । यह सूक्ष्म दृष्टि यदि बनी रहती तो आज अपव्यय द्वारा बड़प्पन प्राप्त करने की होड़ न पनपती तथा राष्ट्र की हर वस्तु का समुचित उपयोग किया जाकर थोड़े में भी अधिक लाभ उठाया जा सकता ।

मैं फूल नहीं काँटा बनूँगा

"दादा !" उसने धीरे से पुकारा। दोनों भाई लगभग तीन घंटे से वाटिका की गुड़ाई कर रहे थे। आश्रम के उपवन में उन्हें इस तरह काम करते देख प्राचीनकाल के श्रमनिष्ठ ऋषियों की कल्पना साकार हो उठती। लगता जैसे "क्रियावान एष ब्रह्मविदां वरिष्ठ" वाली मुंडक की श्रुति साकार हो उठी हो। उसे बड़ा नाज था अपने अग्रज पर, वही क्यों सारा देश इस लघु कलेवर में तप, ज्ञान, भक्ति व कर्म की विभुता को साकार देखता था। अनुज सोच रहा था कि देश स्वतंत्र हो गया है। कांग्रेस के सभी जन किसी न किसी महत्वपूर्ण जिम्मेदारी को सँभालने में जुटे हैं। दिल्ली में पदों का बँटवारा चल रहा है, भाई यहाँ गुड़ाई में मस्त हैं। वह भी तो गाँधी जी के निकटतम सहयागियों में रहे हैं। ऐसे-वैसे नहीं शायद वह अकेले ही थे जिन पर बापू को स्वयं भी श्रद्धा थी। माना कि वह स्थितप्रज्ञ हैं, किन्तु..........।

कई दिनों से उसे यह शंका मथे जा रही थी। सोच रहा था कि एकांत मिले तो पूछूँ। आज वे दोनों ही थे। अन्य आश्रमवासी अपने-अपने कामों में व्यस्त थे। इस समय उसे शंका का समाधान प्राप्त कर लेना उचित लगा।

"क्या है रे ! कुछ पूछना चाहता है ?" उनकी आँखों में अनुज के प्रति सहज स्नेह था।

"हाँ दादा !"

"पूछ" उनके हाथों में थमी खुरपी पहले की तरह ही चल रही थी। ठीक गुरु के प्रयासों की तरह जो कुसंस्कारों, दोषों की खरपतवार को निकाल कर गुणों की नमी को उभारता है।

"यद्यपि प्रश्न तो अटपटा है फिर भी आपसे न पूछूँ तो किससे पूछूँ ?"-वाणी में हिचकिचाहट थी।

"निःसंकोच कह तू !"

"ऐसे में जबकि पंडितजी, सरदार पटेल से लेकर छोटे-बड़े तक सभी को कुछ न कुछ मिल रहा है आप.........." आगे के शब्द गले में अटक गए।

"मुझे मंत्री की कुर्सी क्यों नहीं मिली अथवा इसे मैंने क्यों नहीं स्वीकारा यही न।" कहने के साथ वह हँस पड़े। कुछ बोला तो नहीं वह किन्तु चेहरे

पर जानने की आतुरता स्पष्ट थी ।

"सुन ! किसी भी क्रांति अभियान की सफलता के बाद क्रांतिकारियों की जिम्मेदारी पहले से अधिक बढ़ जाती है ।"

"सफलता के बाद की जिम्मेदारी पहले से अधिक"-उसे यह अटपटा कथन शायद समझ में नहीं आया ।

"हाँ ! इस अवसर पर उन्हें दो वर्गों में बँटना चाहिए । पहला वर्ग बदली हुई व्यवस्था सँभाले, जन-जीवन में बदलते परिवेश के अनुरूप नये प्राणों का संचार करे । दूसरा वर्ग अपने को महा शिल्पी के रूप में समझे, नये सँभालने वाले गढ़े, उन्हें सुरक्षा प्रदान करे और समाज को समर्पित करे ।"

"यह दूसरा काम तो कुछ ज्यादा ही कठिन लगता है, है न ।"

"ठीक कहता है तू, और हर क्रांति के साथ दुर्भाग्य रहा है कि लोगों में इस काम के लिए उमंग नहीं जगी । फलतः परिवर्तन के बाद भी आशायें-अपेक्षायें धुँधली पड़ती जाती हैं । घूम-फिरकर वही दशा वापस लौट आती है । इस बार भी कुछ ऐसा ही दीख रहा है ।

"अँ...।" उसका मन किसी अज्ञात आशंका से भयभीत हो उठा ।

"अरे ! चिंतित मत हो, नियंता सब सँभाल लेगा । उन्होंने भाई की ओर प्यार भरी दृष्टि से ताका । इस बात को और गहराई से समझ । ये दोनों वर्ग समाज रूप वृक्ष में फूल और काँटे की तरह हैं । फूल समाज देवता के सिर पर चढ़ता है, सम्मान पाता है, पर कम ही हैं जो इस यथार्थ से वाकिफ हैं कि उसे यह स्वरूप और सौन्दर्य काँटों ने दिया है ।"

"काँटों ने ?" अनुज ने आश्चर्य से अग्रज की ओर देखा ।

"हाँ काँटों ने । जो देश और जाति के दुःखों में भाग ले सकते हैं, सुख पैदा करने वाले उपजा सकते हैं, पर स्वयं जिनने सुखों का त्याग कर दिया है । नुकीले काँटे जिन्होंने पुष्पों की रक्षा का भार लिया है । वे फूल तोड़ने वाले की उँगलियों को चुभे बिना नहीं छोड़ते परंतु जब फूलों को सम्राटों के मुकुट पर शोभा पाने का सौभाग्य प्राप्त होता है तो वे काँटे उनके साथ नहीं जाते बल्कि सूखी टहनियों पर पतझड़ और ऋतुओं की कठोरता का मुकाबला करते हैं । देश और समाज को ऐसे काँटे चाहिए ।"

अब अनुज की समझ में आ चुका था कि बड़े भाई ने क्यों यह मार्ग चुना ?

उन्होंने आगे कहना शुरू किया-"तूने तो इतिहास पढ़ा है रे ! आक्रांताओं

के प्रवेश के समय भारत एक ऐसा उद्यान था जिसमें कोई माली नहीं था। फलों-फूलों से भरपूर इस उपवन में माली तो क्या एक काँटा भी नहीं था और न फलों-फूलों की रक्षा के लिए काँटों की बाड़ ही थी। जिसका जी चाहा, इसकी सुंदर पगडंडियों को रौंदा, कितने ही फूल मसले, अगणित फल बर्बाद किये। पूरे दो हजार सालों तक यही तो होता रहा।" कहते-कहते उनकी आँखें भर आईं, भाव विह्वल हो बोले-"जानते हो क्यों ? सिर्फ इसलिए कि सांस्कृतिक जीवन के प्रहरी ये काँटे न थे। मैंने अपने लिए यही कर्तव्य निश्चित किया है।" सांस्कृतिक जीवन के यह प्रहरी थे-संत विनोबा और जिज्ञासु थे उनके अनुज बालकोवा।

विराट् की आराधना ही सच्ची पूजा

मई १९५८ की एक सुबह। विनोबा पंढरपुर (महाराष्ट्र) के विठोबा मंदिर के चबूतरे पर अपने सहयोगियों के साथ बैठे कुछ विचार-विमर्श कर रहे थे। तभी गेरुआ वस्त्र पहने अधेड़ आयु की एक महिला उपस्थित हुई। विनोबा को प्रणाम किया और एक कोने में चुपचाप खड़ी होकर उनकी बातों को सुनने लगी। इशारे से विनोबा ने उसे बैठ जाने को कहा। थोड़ी देर में वार्ता समाप्त हुई।

"कैसे आना हुआ ?"-विनोबा ने आगंतुक को संबोधित किया।

"बहुत दिनों से मिलने की इच्छा थी, सो चली आयी, पर मैंने जैसा समझा था, आप वैसे नहीं निकले।"

"कैसा ?"

"सोचा था आप हमारे जैसे गेरुआ वस्त्र धारण करने वाले कोई योगी होंगे। 'संत विनोबा' नाम से तो ऐसा ही प्रतीत होता है न, पर अब साक्षात्कार से स्थिति साफ हो गयी।"

"एक बात पूछूँ ?"-महिला का सविनय प्रश्न था।

"पूछो !"

"आपका चिंतन और आचरण बड़ा सात्विक है। वेशभूषा भी संतों जैसी ही है। आवश्यकतायें भी न्यून हैं। यदि आप कहीं एकांत साधना करते होते, तो

निश्चय ही ईश्वर साक्षात्कार इसी जन्म में हो जाता, फिर आपने समाज-सेवा क्यों अपनायी ?"

"जब आज कर्म की आवश्यकता है, तो क्या आप यह नहीं समझतीं कि लोग धर्म के नाम पर मंदिर, मस्जिद, गुरुद्वारों में पूजा-उपासना की दुहाई देकर काल क्षेप कर रहे हैं ?"-विनोबा का उत्तर था ।

"तो क्या आपका तात्पर्य ईश्वर उपासना छोड़ देने से है ? क्या सच्ची आस्तिकता ईश्वर उपासना त्यागने और नास्तिकता स्वीकारने में है ?"

"नहीं, मेरा यह आशय कदापि नहीं है । मेरा तात्पर्य मात्र इतना है कि यदि भगवान कण-कण में सर्वत्र व्याप्त हैं तो उनकी आराधना मंदिर तक में ही सीमित क्यों हो ? मस्जिद या गुरुद्वारे में ही क्यों हो ? वह तो मनुष्य की सृष्टि हैं और उसमें तो केवल उसी की कला की झलक मिलती है, बुद्धि-कौशल का पता चलता है । यदि ईश्वर की झाँकी हमें करनी है तो इस विशाल विश्व पर दृष्टिपात क्यों नहीं करें, जिसका स्रजेता मात्र ईश्वर ही है-वह ईश्वर जिसने मनुष्य का भी निर्माण किया है । तो हमें उसके साकार और सजीव रूप की आराधना क्यों नहीं करनी चाहिए ?"

"आपका मतलब जनता-जनार्दन की सेवा से है ।"

"हाँ !"-विनोबा ने संक्षिप्त सा उत्तर दिया और गंभीर वाणी में कहना आरंभ किया-"मनुष्य भगवद् सृष्टि का श्रेष्ठ और वरिष्ठ प्राणी है। हर पिता को अपने श्रेष्ठ पुत्र से अधिक स्नेह और लगाव होता है । जब वह पतित एवं धर्मच्युत होने लगता है, तो उसे दुःख भी कम नहीं होता । ऐसे में कोई यदि उसके पुत्रों की सहायता करता है, उन्हें सही मार्ग दिखाता है, तो उसे खुशी भी कम नहीं होती और वह बदले में उसे पारितोषिक भी देता है । क्या आपने वह कहानी नहीं सुनी, जिसमें एक सेठ का रुपये का थैला खो जाने पर और एक व्यक्ति द्वारा उसे लौटा देने पर सेठ ने उसकी नेकनीयती एवं ईमानदारी पर खुश होकर उसे बड़ा इनाम दिया था । ईश्वर को भी ऐसी ही प्रसन्नता होती है, जब कोई उसकी संतान और विश्व उद्यान की उन्नति-प्रगति के लिए तत्पर होता और आगे बढ़ता है । प्रतिदान में अनुदान-वरदान से वह ईश्वर उसे भी निहाल कर देता है ।"

"तो क्या आप यह कहना चाहते हैं कि ईश्वर को अपनी आराधना कराने की तुलना में अपनी रचना की आराधना अधिक प्रिय है ?"

"बिल्कुल ठीक समझीं । हर रचनाकार अपनी पूजा कराने की तुलना में इसे

कहीं अधिक पसंद करता है कि उसकी रचना पूजित हो ।"

"तनिक और स्पष्ट कीजिए ।"-आगंतुक महिला ने जिज्ञासा प्रकट की ।

"मूर्तिकार प्रतिमा तो बना देता है"-विनोबा कहने लगे-"पर प्रशंसा तो विग्रह की सुंदरता की ही होती है । मूर्तिकार की सुंदरता का कहाँ कोई बखान करता है । उसकी सुंदर कलाकृति में उसकी निपुणता की झाँकी लोग अवश्य कर लेते हैं, फिर भी पूजी तो मूर्ति ही जाती है । स्वयं विग्रह निर्माता की भी यही इच्छा होती है कि रचना की ही पूजा हो, लोग उसको ही सिजदा करें, क्योंकि वह भलीभांति जानता है कि उसकी पहचान और उसके प्रति लोगों की श्रद्धा उसकी रचना के कारण ही है और उसी के द्वारा वह चिरस्थायी एवं चिरस्मरणीय बना रह सकता है । ईश्वर भी यही पसंद करता है कि उसका विश्व उद्यान लहलहाता रहे और उसके उसी स्वरूप की साज-सँभाल व पूजा लोग करें । प्रतिमा में समाये रूप की नहीं ।"

बात संन्यासिनी की समझ में आ गयी । उसने इसे भलीभांति आत्मसात् कर लिया कि निर्माण की रक्षा में ही निर्माता की इच्छा निहित होती है । इसी कार्य के द्वारा उसे प्रसन्न किया जा सकता है ।

उसने विदाई ली । विनोबा को प्रणाम किया और चल पड़ी । रास्ते में तरह-तरह के विचार उठने लगे । मंथन प्रारंभ हुआ । वह सोचने लगी-"हाय ! दस वर्ष मैंने यों ही गँवा दिए । घर-परिवार और देश त्यागकर साधु-मंडली में इसलिए सम्मिलित हो गयी थी कि सत्संग एवं भजन-कीर्तन से ईश्वर को प्राप्त कर लूँगी, पर आज बोध हुआ कि अब तक मैं भ्रांति में थी । इससे तो दोहरा घाटा हुआ-'न माया मिली न राम', उल्टे पलायनवादी, हरामखोर, कामचोर जैसे विशेषणों का कलंक सिर पर लदा । इससे तो अच्छा होता कि निराकार ईश्वर का साकार स्वरूप-दरिद्रनारायण, समाज देवता की आराधना करती, तो प्रत्यक्ष श्रद्धा, सम्मान, शांति-संतोष तो मिलते ही । यह क्या ईश्वर के प्रत्यक्ष अनुदान नहीं हैं ? अब भी अवसर है, मुझे इस भ्रम से उबरना और समाज सेवा में जुट पड़ना चाहिए । क्या ही अच्छा होता, हमारी ही तरह भारत के तथाकथित संन्यासियों को भी समय रहते कर्तव्य बोध हो जाता ? काश ! वे यह समझ पाते कि घंटों भजन-कीर्तन में समय बिताने और विग्रह के समक्ष आठ-आठ आँसू बहाने में भगवान की सच्ची भक्ति नहीं है, वरन् सच्चा भक्त तो वह है, जो समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्वों का सही-सही पालन करे । स्वयं महाकाल की भी तो यही घोषणा है कि सच्चा भक्त वह है, जिसमें

तड़पन हो, करुणा हो और सक्रियता हो । तड़पन समाज के प्रति, करुणा दूसरों के प्रति और सक्रियता इनके लिए स्वयं की तत्परता के प्रति । यह भक्त की बदली हुई परिभाषा है । इससे ऐसा लगता है कि अब भगवान ने भी अपनी मन:स्थिति बदल ली है और बदली हुई परिस्थिति में अब ऐसे ही लोगों पर अपनी सवारी गाँठने का निश्चय किया है । अत: हम सबको उनका वाहन बनने के लिए अब और समय न गँवा कर तत्पर हो जाना चाहिए ।"

विचारों का तारतम्य चला एवं एक नया कर्तव्य बोध जगा, तो उसने अपना गेरुआ बाना त्याग दिया और समाज-सेवा के क्षेत्र में कूद पड़ी एवं आजीवन बंबई की गंदी बस्तियों तथा आस-पास के गाँवों में अछूतोद्धार का काम करती रहीं । यह और कोई नहीं, अपने देश को त्याग कर भारत में साधनात्मक जीवन बिताने के लिए आने वाली जर्मन महिला ल्यूसियेन थीं, जिनका नाम बदल कर बाद में विनोबा जी ने हेमा बहन रख दिया था । आज समाज को ऐसी ही बहनों की आवश्यकता है ।

"सम-वेदना" की सच्ची अनुभूति

"देखो यह शोर कैसा हो रहा है ।"-पति ने पत्नी से कहा और दोनों उस ओर भाग चले । जाकर देखा नदी की अपार जलधारा में आठ-नौ वर्ष का बच्चा बहा जा रहा है । आस-पास खड़े लोग तमाशा देख रहे हैं । बच्चे के माँ-बाप और सगे-संबंधियों की करुण चीत्कार जारी है ।

ये दोनों अभी कुछ ही दिन पहले भारत से यहाँ आये थे । आक्सफोर्ड में उच्च शिक्षा के सारे प्रबंध करने के बाद, पास के ही इस स्थान पर मन बहलाने आये थे । उद्देश्य था सैर-सपाटा-भ्रमण यही सब । सोचा था इसी बहाने पत्नी की ऊब समाप्त हो जायगी । आक्सफोर्ड से कुछ दूर पर बह रही नदी के आस-पास का दृश्य मनोरम था । नदी की तेज-जलधारा के दोनों किनारे के मनोरम दृश्य, सुंदर कुंज-बेलियाँ किसी को भी अपनी ओर आकर्षित करने के लिए काफी थीं ।

ऐसी ही एक जगह में बैठे मन बहला रहे उक्त दंपत्ति उधर दौड़ पड़े जिधर से

शोर उमड़ रहा था। भीड़ तो खासी इकट्ठी हो गयी थी, पर कोई नदी में कूदकर बच्चे को बचाने का प्रयास नहीं कर रहा था। कारण कि सभी नदी की तेज जलधारा से भयभीत थे और कोई भी इस पुण्य को करते हुए अपने को डुबाना नहीं चाहता था। हांलाकि बहाव से संघर्ष कर रहे बच्चे को ऐसे-तैसे, वैसे-तैसे के सुझाव तो प्राय: सभी दे रहे थे, पर सुझाव सुझाव है और सहायता सहायता। इन दोनों में बहुत ज्यादा फासला है जिसे भरने के लिए चाहिए संवेदनशील हृदय तथा शरीर की तत्परतापूर्ण सक्रियता। उक्त भारतीय युवक अपने में इन दोनों की उपस्थिति महसूस कर रहा था। उसने सोचा, सोचा ही नहीं निर्णय भी कर लिया कि चाहे जो हो वह इस बालक को अवश्य बचायेगा।

उसके हाथों की उँगलियाँ कोट-पैंट-टाई तथा जूते खोलने-उतारने में सक्रिय हो गयीं। "अरे ! अरे !! क्या तुम नदी में कूद कर अपनी जान देना चाहते हो"- वहाँ खड़े लोगों में से किसी ने कहा और सभी उस नर शार्दूल को देखने लगे।

"हाँ ! बच्चे को छटपटाता देखकर जो पीड़ा अनुभव कर रहा हूँ, वह या तो बच्चे को बचा लेने पर शांत होगी या बचाते हुए मर जाने पर।"

"कितना बनता है ?"-किसी ने कहा।

"हिम्मत वाला है।"-किसी ने प्रोत्साहित किया।

"अरे मैडम ! तुम अपने पति को इस मृत्यु की धारा में कूदने से रोकती क्यों नहीं ?" किसी ने सहानुभूति के स्वरों में उस युवक की पत्नी को परामर्श दिया। इसी बीच वह युवक कपड़े उतार चुका था। उसने देखा बच्चा अब थक चुका है और बेदम होकर या तो बहने वाला है अथवा पानी में डूबने वाला है।

एक क्षण भी व्यर्थ न जाने देकर वह एकदम कूद पड़ा। जैसे-तैसे उसने बच्चे को धकेला और किनारे पर ला पटक दिया। जहाँ से लोगों ने उसे पकड़कर खींच लिया। युवक भी बाहर आने को था कि पानी का तेज बहाव आया और वह दूर जा पड़ा। इस अप्रत्याशित स्थिति में ऐसा लगा कि वह डूब गया। पत्नी अपलक अपने सर्वस्व की यह दशा निहार रही थी। आखिर संघर्ष के कौशल ने उसे मौत के चंगुल से बाहर कर ही दिया।

तनिक स्वस्थ हो जाने पर जन-समुदाय ने पूछा-"अगर मर जाते तो ?"

"संवेदनशील होने के स्थान पर तो मर जाना ही अच्छा।"

"तो संवेदना का अर्थ मौत को गले लगाना है ?"-पूछने वाले के स्वर में तनिक व्यंग्य था।

"नहीं, संवेदना का अर्थ है-सम-वेदना अर्थात् बराबर की पीड़ा । दुःख-दैन्य से ग्रसित व्यक्ति जैसी पीड़ा ही जब हृदय अनुभव करने लगे तब समझना चाहिए कि संवेदना जगी । इसी अनुभूति का नाम मनुष्यत्व है ।" उसके अधरों पर एक गौरवमयी मुस्कान खेल गयी । मनुष्यत्व की सहज अनुभूति करने वाले ये भारतीय दंपत्ति थे-लाला हरदयाल और उनकी सहधर्मिणी-सुंदररानी । उन जैसी अनुभूति ही जीवन की सार्थकता है ।

बहादुर हो तो सचाई की राह पर बढ़ो

सन् १९२२ में अमावस्या की एक काली रात और वामक नदी का किनारा । गुजरात के प्रसिद्ध समाजसेवी रविशंकर महाराज नदी के किनारे पगडंडी पर आगे बढ़ते चले जा रहे थे । तभी उनके कंधे पर पीछे से हाथ रखते हुए किसी ने कहा-"महाराज ! आप आगे कहाँ जा रहे हैं ? चलिए वापस लौट चलिए ।"

महाराज ने स्वर पहचान लिया, पूछा-"कौन है ? पुंजा ।"

"हाँ महाराज, आगे मत जाइये । आगे खतरा है ।"

"कैसा खतरा ?"

"आगे रास्ते में 'बहारवटिया' छिपे हैं ।" "कौन ! नाम दरिया है ।"

"हाँ वही है । मेरी राय है कि आप आगे न जायें । व्यर्थ में ही इज्जत देने से क्या लाभ होगा ?"

महाराज हँसे । उन्होंने कहा-"भाई मेरी इज्जत इतनी छोटी नहीं है जो थोड़ी सी बात में समाप्त हो जाय । मैं उन्हीं की तलाश में इधर आया था । चलो अब तुम्हीं मुझे वहाँ पहुँचा दो, क्योंकि तुम्हारा सारा रास्ता देखा है और वह ठिकाने भी तुम्हें मालूम हैं जहाँ यह लोग छिपे रहते हैं ।"

"नहीं, नहीं, महाराज मेरी हिम्मत वहाँ जाने की नहीं है । अगर उन्होंने कोई हमला किया तो मैं आपको बचा भी न पाऊँगा और मेरे प्राण बेकार में चले जायेंगे ।"-इतना कह पुंजा ठिठक गया ।

"अच्छा तो तुम रुको । मैं आगे जाता हूँ ।" इतना कह महाराज आगे बढ़ गये ।

वह चलते-चलते एक खेत की मेड़ पर खड़े हो गए । इतने में ही उन्होंने देखा कि एक व्यक्ति साफा बाँधे बंदूक लिए उनकी ओर बढ़ता चला आ रहा है । जब दोनों के बीच की दूरी कम रह गई तो उसने सामने बंदूक तान दी ।

महाराज खिलखिला कर हँस पड़े । उन्हें वारदोली सत्याग्रह का स्मरण हो आया और उनका साहस दुगुना हो गया । वे बोले-"क्यों ? क्या आज अकेले ही हो ? तुम्हारे अन्य साथी कहाँ हैं ?"

अब महाराज और बंदूकधारी दोनों ही पास की झोंपड़ी के निकट आ गए जहाँ अन्य डाकू छिपे थे । एक ने गरज कर कहा-"खबरदार ! जो एक कदम भी आगे बढ़ाया......." और महाराज लापरवाही से उसी ओर बढ़ने लगे जिस ओर से यह ललकार आई थी । सामने एक घुड़सवार डकैत ने आकर पूछा-"तुम कौन हो ?"

"मैं गाँधी की टोली का बहारवटिया हूँ । आओ हम लोग बैठकर बात-चीत करें । मैं तुम सबको बुलाने ही तो आया हूँ ।" इतना कहकर महाराज ने घोड़े की लगाम पकड़ने के लिए हाथ बढ़ा दिया ।

सब लोग उसी झोंपड़ी के पास बैठ गए । महाराज ने समझाना शुरू किया-"भाइयो ! यदि तुमको जौहर ही दिखाना है तो उन अंग्रेजों को क्यों नहीं दिखाते, जिन्होंने सारा देश ही तबाह कर दिया है । इन गरीबों को लूट कर मर्दानगी दिखाना तो लज्जा की बात है । अब गाँधीजी के नेतृत्व में शीघ्र ही आंदोलन शुरू होगा । यदि तुम में सचमुच पौरुष है, तो गोली खाने चलो । गाँधीजी ने तुम सबको आमंत्रित किया है ।" यह कहते-कहते महाराज के नेत्र सजल हो गए । गला रुँध-सा गया । डाकू इस अंतरंग स्नेह से अभिभूत हो उठे ।

अपने हथियार डालते हुए उनके सरदार ने कहा-"आप निश्चिंत होकर जाइये । आज हम आपके गाँव में डाका डालने को थे पर अब नहीं डालेंगे । साथ में एक आदमी भेजे देता हूँ ।

महाराज ने कहा-"आप मेरी चिंता न करिये, मैं अकेला ही आया था और अकेला ही चला जाऊँगा । साथ देना है, तो उस काम में साथ दो जिसे गाँधीजी ने और भगवान ने हम सबको सौंपा है ।

डाकुओं में से कई ने कुकृत्य छोड़ दिए और कइयों ने सत्याग्रह आंदोलन में भारी सहयोग दिया ।

आत्म-विश्वास की विजय

राजनैतिक जीवन में आने से पूर्व भी स्व० राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद अत्यंत सरल, सीधे, अल्पभाषी और अनुशासनप्रिय थे । आत्म-विश्वास स्व० राष्ट्रपति के जीवन की बहुत बड़ी विशेषता थी । वस्तुत: ऐसी ही विशेषतायें मनुष्य जीवन को गौरवान्वित किया करती हैं, उसे ऊँचा उठाया करती हैं ।

घटना राजेन्द्र बाबू के विद्यार्थी जीवन से संबंध रखती है । वे केवल विद्यालय में अपनी सरलता और अनुशासन प्रियता के लिए ही सम्मनित न थे वरन् परिश्रमपूर्ण अध्ययन में अग्रणी विद्यार्थियों की कोटि में भी उनका नाम लिया जाता था । वे कहा करते थे-जो विद्यार्थी अध्ययन काल में मन लगा कर नहीं पढ़ते, शील, शरीर और चरित्र की रक्षा और विकास नहीं करते उनकी नीवें कच्ची रह जाती हैं । बड़े होकर वे कोई महत्वपूर्ण कार्य नहीं कर सकते इसके सिवा कि रोजी-रोटी के लिए इधर-उधर भटका करें ।

अपने सिद्धांतों को उन्होंने दूसरों को मनवाया हो या नहीं यह दूसरी बात है पर स्वयं बड़ी लगन, दृढ़ता और आत्म-विश्वास के साथ उस पथ पर चले । संभवत: उसी साधना का प्रभाव उनको राष्ट्र के सर्वोच्च सम्मान तक पहुँचा कर ले गया । संसार में जितने भी महापुरुष हुए हैं उनमें ऐसी विशेषतायें अवश्य पाई गई हैं या यों कहना चाहिए कि जिन्हें विश्व में कुछ विशिष्ट कार्य, पद, यश, सम्मान की महत्वाकांक्षा हो, सैद्धांतिक सच्चाई, ईमानदारी, दृढ़ता, आत्म-विश्वास के ऐसे क्षण उनके लिए भी अत्यावश्यक हैं । मनुष्य आत्मिक गुणों की विशिष्टिता और संकल्पशीलता के भरोसे पर ही उन्नति के उच्च शिखर चढ़ जाता है ।

डा० राजेन्द्र बाबू परिस्थितियों के पीछे नहीं चले वरन् उन पर विजेता की हैसियत से छाये रहे । विद्यार्थी जीवन की बात है कि गहन अध्ययन के बाद जब परीक्षा का समय निकट आया तो वह बीमार हो गए । मलेरिया के कारण काफी समय बेकार चला गया । अतएव अध्यापकों को भी उनकी सफलता पर संदेह होने लगा । साथियों ने उस वर्ष परीक्षा न देने की सलाह दी पर राजेन्द्र बाबू को अपने अध्ययन पर विश्वास था । उन्होंने कहा-"तब या अब से फर्क नहीं पड़ता। मैंने जो पढ़ा है, मेहनत से पढ़ा है मुझे अपना पाठ भली प्रकार याद हैं । परीक्षा दूँगा और उसमें सफल भी होऊँगा ।

(देखन में छोटे लगें

उनका यह आत्म-विश्वास अतिशयोक्ति न था । जब आलसी और परिश्रम न करने वाले छात्र परीक्षा में चालाकियों से उत्तीर्ण हो जाते हैं तो पूरे वर्ष कठिन परिश्रम से अपना सबक तैयार करने वाला विद्यार्थी असफल कैसे होने लगा । उन्होंने विश्वास के साथ परीक्षा दी । सब पर्चे अच्छी तरह हल किए । कहीं कोई चिंता या घबराहट नहीं हुई ।

दुर्भाग्य से परीक्षा फल सुनाया गया तो उसमें राजेन्द्र प्रसाद का नाम नहीं आया । जब सब विद्यार्थियों के नाम बोले जा चुके तो राजेन्द्र बाबू ने पूछा-"मेरा नाम नहीं बोला गया ?"

आचार्य ने कहा-"तुम अनुत्तीर्ण होगे ?" राजेन्द्र बाबू ने कहा-"ऐसा कभी नहीं हो सकता । मैंने परिश्रम के साथ पढ़ाई की है । परीक्षा का नक्शा मेरी आँखों में है । मुझे अपने हल पर विश्वास है उसी प्रकार यह भी कि मैं असफल नहीं हो सकता ।"

आचार्य ने बैठने को कहा । राजेन्द्र बाबू नहीं बैठे । आचार्य ने ५) रु. जुर्माना बोल दिया । फिर भी वे नहीं हिले । जुर्माना और किया गया और इस तरह ५० रुपये तक पहुँच गया पर राजेन्द्र प्रसाद अपने विश्वास से न डिगे । विद्यालय में हलचल मच गई ।

कार्यालय में फिर से खोज हुई तो पता चला कि लिपिक की भूल से उनका नाम छपने से रह गया था जबकि वे उत्तीर्ण थे और उन्हें सर्वाधिक अंक मिले थे ।

सच्ची श्रद्धांजलि

सन्मार्ग प्रदर्शन करने वाले ऐसे पिता से बिछोह । टेलीग्राम में लिखे शब्द कनपटियों में हथौड़ियों की तरह बजने लगे । उन्हें इस तरह पड़े देख पास खड़े लोगों ने चेहरे पर पानी के छींटे दिए । जेल अधिकारियों को डर था कि इस तरह कहीं यह भी मर गया तो । मूर्छा टूटी । उन्होंने पलकें झपकायीं । एक बारगी सबकी ओर देखा । अपने को संभालने की कोशिश की । उठकर सचेतन हो बैठ गए । पास पड़ा कागज का टुकड़ा घूर-घूरकर उन्हें देख रहा था । उसमें लिखे दोनों शब्द मस्तिष्क में अभी भी चमक रहे थे ।

इधर मित्रों ने जी-जान लगाकर कोशिश की कि सरकार उन्हें पैरोल पर छोड़ दे ताकि पिता को पुत्र अपनी सविधि श्रद्धांजलि दे सके। कोशिश बेकार नहीं गयी। सरकार उन्हें छोड़ने के लिए राजी हो गयी। इस कार्य में अधिकारियों के मन में एक दबा-छुपा गर्व भी था कि वह उन पर विशेष कृपा कर रहे हैं।

वह अपने को स्वस्थ-सहज करने का प्रयत्न करते हुए बैठे थे। इतने में एक मित्र ने रिहाई का समाचार उन तक पहुँचाया। बोला-"चलने की तैयारी करो।"' 'रिहाई किसकी ?" उनका स्वर आश्चर्य से भरा था।

"तुम्हारी ! क्या पिताजी को श्रद्धांजलि नहीं देनी ?" मित्र उनके वाक्य को सुनकर हतप्रभ हो गया था।

"कर्तव्य से पलायन को श्रद्धांजलि का नाम मत दो। मुझे किसी की कृपा नहीं चाहिए। पिताजी सारी उम्र जिन आदर्शों के लिए अपने प्राण की बूँदों को निचोड़ते रहे, उन्हें मैं ठुकरा नहीं सकता।" वह कुछ देर रुके। आँखों की कोरों में ढुलक आए आँसुओं को पोंछा। फिर बोले-"श्रद्धा आदर्शों के प्रति समर्पण का नाम है और जब आदर्श न रहे तो श्रद्धा कैसी ? और कर्तव्य ! वह भी तो आदर्शों के प्रति समर्पण का सक्रिय रूप है। मैं इसी रूप में उन्हें श्रद्धांजलि अर्पित कर रहा हूँ, करता रहूँगा।" उन्होंने आँखें उठाकर मित्रों की ओर देखा। "सच्ची श्रद्धाजलि यही है"-मित्र बोल पड़े। इस सच्ची श्रद्धांजलि की प्रखरता के सामने कागज के उस छोटे टुकड़े पर लिखे शब्द "फादर डैड" निस्तेज पड़ चुके थे। अपने पिता को ऐसी सच्ची श्रद्धांजलि देने वाले महापुरुष थे-डॉ० राम मनोहर लोहिया। क्या ही उत्तम हो यदि हम सब भी अपने मार्गदर्शक को कर्तव्य के भाव-भीने श्रद्धा सुमन समर्पित कर सकें।

साहसपूर्वक न्याय का पक्ष

संयुक्त राष्ट्र संघ से पहले एक अंतर्राष्ट्रीय संस्था थी 'लीग ऑफ नेशन्स'। इस संस्था का गठन भी उन्हीं उद्देश्यों से किया गया था जिसके लिए कि आगे चलकर यून० एन० ओ० का गठन हुआ। 'लीग ऑफ नेशन्स' कहने को तो विश्व शांति और अंतर्राष्ट्रीय सद्‌भावों की स्थापना के लिए काम कर रहा था पर उसका उपयोग प्राय: यूरोपियन राष्ट्र अपने निहित स्वार्थों की पूर्ति के लिए ही करते थे। संघ की बैठक भी यूरोप के अंग्रेजी मित्र राष्ट्रों में ही हुआ करती थी।

तब लीग ऑफ नेशन्स की बैठक जेनेवा में हो रही थी। इस बैठक में भारत सरकार का प्रतिनिधि भी भाग ले रहा था। यद्यपि नियमानुसार परतंत्र देश इसके सदस्य नहीं बन सकते थे लेकिन अंग्रेज यह प्रचारित कर रहे थे कि वे भारत की शासन व्यवस्था में कम से कम हस्तक्षेप करते हैं तथा वह भी आवश्यक होने पर। आवश्यक वहाँ समझा जाता था जहाँ कोई समस्या हल नहीं हो रही हो क्योंकि उनके प्रचार का यह भी एक मुद्दा था कि भारतीय पिछड़ी जाति के हैं और उन्हें शासन चलाना भी नहीं आता।

इसी भ्रामक प्रचार की पुष्टि के लिए अंग्रेजों ने भारत सरकार का वह सदस्य प्रतिनिधि बना कर भेजा जो उनका अंध समर्थक था। प्रतिनिधि के रूप में अंग्रेजों के भक्त राजा-महाराजाओं में प्रमुख बीकानेर नरेश को भेजा गया था। अत: प्रतिनिधि की हैसियत से पहुँचे बीकानेर नरेश ने वही भाषण दिए जो अंग्रेजों ने तैयार कराये थे और जिनसे भारत में साम्राज्य शाही की जड़ें मजबूत होती थीं। उनके भाषण का केन्द्रीय प्रतिपादन यह था कि भारतीय जनता को अंग्रेजी राज में कोई तकलीफ नहीं है और इस शासन में वहाँ दूध की नदियाँ बह रही हैं।

तब बर्लिन में पढ़ रहे एक भारतीय विद्यार्थी की आँखें इन भाषणों को समाचार पत्रों में पढ़कर विस्फारित रह गयीं। समाचार पत्रों में नरेश के भाषण सुर्खियों में छपे थे और उसने तत्क्षण निश्चय कर लिया कि इस भ्रामक प्रचार को बेनकाब करना है। उसने निश्चय किया कि लीग की बैठक में ही सभागृह के भीतर इस प्रकार के वक्तव्यों का विरोध करना है। अपने एक सहपाठी मित्र को लेकर वह भारतीय छात्र जेनेवा पहुँचा।

दोनों मित्रों ने किसी प्रकार जोड़-तोड़ बिठाकर सभागृह में जाने के लिए दो पास की व्यवस्था की और गैलरी में जाकर बैठ गए । सभा की कार्यवाई आरंभ हुई और शांतिपूर्वक चलने लगीं । महाराजा बीकानेर का जब भाषण देने का क्रम आया तो वे उठे और वही रटी-रटाई बातें कहने लगे । उन्होंने समस्त प्रतिनिधियों को अंग्रेजी राज की झूठी विशेषताओं और शान-शौकत से अवगत कराना आरंभ किया ।

तभी दर्शक गैलरी से सीटी की तेज आवाज आयी और शांत सभागृह में खलबली मच गयी । अध्यक्ष ने गैलरी की ओर देखा तो एक भारतीय युवक को इस भाषण का विरोध करते देख चकित हो गया । फिर भी उसने नियम तो तोड़ा ही था । अत: उसका पास रद्द कर सभा से बाहर निकाल दिया ।

युवक को लगा कि गल्ती हो गयी है और एक स्वर्णिम अवसर हाथ से चूक गया है । फिर भी झूठ को बेनकाब तो करना ही था । अत: दोनों मित्रों ने विचार-विमर्श कर एक योजना बनायी । उस योजना के अनुसार उक्त विद्यार्थी ने लीग के अध्यक्ष के नाम एक खुली चिट्ठी लिखी और अखबारों में प्रकाशनार्थ भेजी जिसमें महाराज द्वारा प्रचारित बातों का खंडन किया गया था । 'लू त्रावैल्यू नैनाइट' अखबार ने उस चिट्ठी को अविकल छाप दिया । दूसरे दिन दोनों मित्रों ने अखबार की बहुत सी प्रतियाँ खरीदीं और प्रतिनिधियों में अखबार की एक-एक प्रति सभी को बाँटी । इससे लीग की बैठक में अतथ्यपूर्ण भाषण नहीं हो सका । निर्भीकतापूर्वक सत्य और तथ्य का पक्ष प्रस्तुत करने का साहस करने वाला यह युवक डा० राम मनोहर लोहिया ही थे ।

मर्यादा टूटी नहीं औचित्य छूटा नहीं

रसोई घर तीसरी मंजिल पर और उसमें भी नल नहीं । पानी नीचे के नल से भरना पड़ता था । माताजी थीं पुराने विचारों की थीं । बहू होती ही है काम करने के लिए इस मत को मानने वाली । सो वे उसे ही पानी लेने भेजती । पति के लिए यह किसी धर्म संकट से कम नहीं था । एक ओर मर्यादा और दूसरी ओर कर्तव्य । पत्नी गर्भवती थी ।

उन्हें यह सहन नहीं होता था कि पत्नी इस स्थिति में भी पानी का मटका सिर पर लेकर इतनी सीढ़ियाँ चढ़े । वे किसी तरह पत्नी से पानी मँगवाना बंद कराना चाहते थे । किंतु यह कार्य आसान नहीं था । एक तरफ उनकी जननी थी और दूसरी तरफ शिशु निर्माण में संलग्न सहधर्मिणी । माँ को कुछ कहते तो मर्यादा टूटती । स्वयं पानी ले आते तो माँ को बुरा लगता । इस समस्या का उन्होंने ऐसा समाधान खोज निकाला कि न तो माँ नाराज हुई और न पत्नी को कष्ट ।

पति ने अपने नहाने का समय वही निश्चित किया जब पत्नी पानी लेने आती थी । मटका जब भरता तो वह चुपचाप उसे उठा लेते । पत्नी मना करती तो वे उसे चुप करा देते । वह अपने देवता के मनोभावों को समझ गई । वह कुछ नहीं कहती और उनके पीछे-पीछे सीढ़ियां चढ़ती जाती । जब वे तीसरी मंजिल पर पहुँचते और एक-दो सीढ़ियां ही बच रहतीं तभी वह मटका पत्नी के सिर पर रख देते और स्वयं नहाने के लिए नीचे आ जाते ।

यह सूझबूझ वाले पति और कोई नहीं भारत रत्न लाल बहादुर शास्त्री थे जिन्होंने राष्ट्रीय और पारिवारिक दायित्वों को पूरी निष्ठा के साथ निभाया था । सहधर्मिणी के स्वास्थ्य तथा सुख की ओर उनका पूरा ध्यान रहता था । वे सदैव अपने कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों के प्रति सच्चे ही बने रहे । यह उनकी सूझबूझ का ही परिचायक थी कि उन्होंने कर्तव्य का निर्वाह भी कर लिया और मर्यादाओं का उल्लंघन भी न होने दिया । ललिता जी ने भी उनके देश सेवा की भावना को समझ उन्हें पूरा-पूरा सहयोग दिया ।

सहनशीलता में महानता सन्निहित

बात सन् उन्नीस सौ पैंसठ की है । उन दिनों भारत-पाकिस्तान का युद्ध चल रहा था । चाहे जब हवाई हमले की घंटी बज सकती थी । सुरक्षा के लिए प्रधानमंत्री भवन में भी खाईं बनवायी गयी थी । प्रधानमंत्री श्री लाल बहादुर शास्त्री को कहा गया कि आज हमले की आशंका अधिक है, आप घंटी बजते ही तुरंत खाईं में चले जावें ।

किन्तु दैवयोग से उस दिन हमला नहीं हुआ । सुबह देखा गया कि बिना

बमबारी के खाईं गिर कर पट गई है । खाईं बनाने वालों की तथा उसे पास करने वालों की यह अक्षम्य लापरवाही थी । यदि वे उस रात खाईं के अंदर होते तो क्या होता ? सोच कर रोंगटे खड़े हो जाते हैं । देश के प्रधानमंत्री का जीवन कितना मूल्यवान होता है ? वह भी युद्धकाल में ?

अन्य व्यवस्था अधिकारियों ने भले ही इस प्रसंग पर कोई कार्यवाही की हो किन्तु शास्त्रीजी ने संबंधित व्यक्तियों के प्रति कोई कठोरता नहीं बरती । अपितु बालकों की भाँति क्षमा कर दिया ।

दूसरी घटना भी सन् उन्नीस सौ पैंसठ की ही है । युद्धकाल था ही । चौबीस घंटों में कभी भी कैबिनेट की इमरजैंसी मीटिंग हो जाती थी । उस दिन भी संध्या समय मीटिंग थी । कड़ाके की ठंड थी किन्तु उत्तरदायित्वों के प्रति सजग तथा समय के पाबंद हमारे तत्कालीन प्रधानमंत्री नियत समय पर मीटिंग के लिए चल दिए । जाकर कार में बैठ गए । पर जब बड़ी देर हो गई और कार खड़ी रही तो उन्होंने पूछताछ की । इस संबंध में देर होने की बात भी कही ।

तब कहीं संयोजक महोदय ने बताया कि मीटिंग तो आज उन्हीं के घर पर है । कोई दूसरा प्रधानमंत्री होता तो यों अपना समय नष्ट करने पर संबंधित अधिकारी को अवश्य ही प्रताड़ित करता । किन्तु वे दूसरों की त्रुटियों को माँ जैसी ममतापूर्वक ही सहन कर जाते थे ।

संगठन में ही शक्ति है

गुजरात के बोरसद क्षेत्र की जनता उन दिनों चक्की के दो पाटों के बीच पिस रही थी । एक ओर तो था डाकुओं का आतंक और दूसरी ओर सरकारी पुलिस द्वारा अपना निर्वाह व्यय ग्रामीण जनता से लिया जाना । जनता परेशान थी । उसे दोनों ओर से लूटा जा रहा था । एक ओर तो डाकू लूट रहे थे दूसरी ओर उन्हें पकड़ने में असफल हो रही सरकारी पुलिस ।

बोरसद क्षेत्र में उन दिनों डाकुओं का आतंक फैला हुआ था । दिन छिपते ही सब लोग अपने-अपने घरों में जा घुसते थे । बाहर एक बच्चा भी नजर नहीं आता था । डाकू संख्या में थोड़े थे पर संगठित होने के कारण वे पचासों ग्रामों के

हजारों ग्रामवासियों के लिए सिरदर्द बने हुए थे ।

अंग्रेज सरकार ने उन गाँवों की सुरक्षा के लिए पुलिस दलों की नियुक्ति कर रखी थी । पुलिस के इन सिपाहियों का खर्च ग्रामवासियों को देना पड़ता था जबकि ये डाकुओं को पकड़ने में नितांत असमर्थ सिद्ध होते थे । उन्हें तो अपने से मतलब था । डाकुओं से मुकाबला करके प्राणों को संकट में डालना उन्हें प्रिय नहीं था । वे डाकुओं को पकड़ते तो भी उनका खर्च वहन करने का कोई औचित्य नहीं था । पर पराधीन देश की जनता पर जितने अन्याय थोपे जाँय उतने ही कम हैं यह सोचकर सरकारी अधिकारी भी कानों में तेल डाले बैठे थे ।

इस दोहरी मार से त्रस्त होकर उस क्षेत्र की जनता ने सरदार वल्लभ भाई पटेल का स्मरण किया । सरदार पटेल को यह सूचना मिली तो वे तुरंत बोरसद के लिए चल पड़े । उनके मन में न डाकुओं के आतंक का भय था न सरकार की नाराजगी की परेशानी ।

उन्होंने बोरसद क्षेत्र के एक ग्राम में पहुँचकर ग्रामवासियों को धीरज बँधाते हुए कहा-"हमें न डाकुओं से डरना है और न पुलिसवालों को अपनी रक्षा के लिए गाँवों में रखना है । हम अपनी रक्षा स्वयं कर लेंगे ।" फिर उन्होंने ग्राम के मुखिया से पूछा-"आप यह बताइये कि इस गाँव में कितने लोग रहते हैं ?"

"सात सौ ।"

"इनमें से कितने हट्टे-कट्टे आदमी हैं-जवान और अधेड़ ।"

"कोई दो सौ ।"

"और डाकू कितने आते हैं डाका डालने ?"

"यही कोई पंद्रह बीस या अधिक हुए तो तीस ।"

"मैं समझता हूँ हर घर में एक लाठी तो होगी ही, बीस-तीस तलवारें व दस-बारह बंदूकें भी होंगी । कई लोग इन्हें चलाना भी जानते होंगे । इस लिहाज से गाँववासियों की ताकत डाकुओं से पाँच गुनी तो है ही । फिर अपना घर, अपना गाँव, अपने जाने पहचाने रास्ते इनका लाभ हमें ही मिलता है । डाकू तो इतना जानते भी नहीं, फिर उनसे डरने का प्रश्न ही नहीं उठता । हम में और उनमें अंतर यही है कि वे संगठित होते हैं, इसलिए जीत जाते हैं । हम लोग असंगठित व असावधान होते हैं इसलिए हम उनका मुकाबला भी नहीं कर पाते ।"

सरदार पटेल ने समझाया । बात ग्रामवासियों के समझ में आ गयी । एक व्यक्ति बोला-"आपका कहना बिल्कुल ठीक है ।"

"तो देर किस बात की है । गाँव में जितने भी स्वस्थ, समर्थ पुरुष हैं वे तीस-तीस का दल बनाकर बारी-बारी से रात में गाँव का पहरा लगायें । पुलिस वालों को खर्च देना बंद कर दें । अन्य लोग भी चौकन्ने होकर सोयें । डाकू आने पर डरें, भागें नहीं, संगठित होकर मुकाबला करें । फिर क्या मजाल कि वे इस ओर दोबारा आने का साहस कर सकें ।" उनकी बातों ने जादू का सा असर किया । देखते ही देखते दो सौ ग्रामरक्षकों की दो कंपनियाँ बन गईं । फिर कभी डाकुओं का आक्रमण नहीं हुआ । अपनी रक्षा में जो स्वयं समर्थ हो उसे न शत्रु का भय रहता है न अपने लिए किसी रक्षक की ही आवश्यकता ।

सिद्धांत सर्वोपरि होता है

लाला लाजपतराय की मृत्यु का बदला शहीद भगतसिंह तथा उनके जाग्रत-प्राण मित्रों ने सांडर्स का वध करके ले लिया था । इसका बदला लेने के बाद वे स्वयं को छिपाने में बड़ी चतुराई के साथ सफल भी हो चुके थे । इसके बावजूद भी भगतसिंह को जिस आत्म-संतोष की चाह थी वह नहीं मिल रहा था । अपने इस कार्य में उन्हें कोई न कोई गलती महसूस हो रही थी ।

क्रांतिकारियों का आदर्श किसी की हत्या करना नहीं था । उनका आदर्श तो देशप्रेम की अग्नि को जन-जन के हृदय कुंड में प्रज्ज्वलित करना था । उनके इस आदर्श का, उनके इस उद्देश्य का स्पष्ट स्वरूप सांडर्स वध से जन मानस के सामने प्रस्तुत नहीं हो सका । ऐसे लोग तो इने-गिने ही थे जिनमें देश प्रेम की भावना थी और उनके उद्देश्यों का परिचय पा सकते थे । अधिकतर जनता के लिए तो यह कृत्य विशेष महत्व का न था ।

अपने अंतःकरण में झलकने वाले इस असंतोष पर सरदार भगतसिंह ने गहन चिंतन किया तो उन्होंने पाया कि इस प्रकार के कृत्यों द्वारा सामान्य जनता को नहीं जगाया जा सकता । आदर्शों को महत्ता देनी होगी, भले ही उनके लिए हमें कर्मवीर मित्रों को ही क्यों न खोना पड़े । तभी हम अपने आदर्शों के सच्चे स्वरूप को देश-बंधुओं के समक्ष रख सकेंगे । अगर यह स्वरूप प्रस्तुत नहीं किया जा सकता

तो यह हत्याएँ तथा विरोध मात्र अपराध का दृष्टांत बनकर रह जायेगा । जन जागरण जन चेतना संभव न हो सकेगी ।

शहीद भगतसिंह ने अपनी भूल को दूसरी बार सुधार लिया । इस बार विस्फोट द्वारा उन्होंने ब्रिटिश सरकार के कान खोल दिए तथा जनता की नींद धमाके से तोड़ी । अपने इस कृत्य की सफलता के लिए उन्होंने अपने उद्देश्यों का परिचय छपी हुई विज्ञप्तियों की वर्षा करके दिया । इनमें यह दिखाया गया था कि बहरों को जगाने के लिए आवाज ही पर्याप्त नहीं, विस्फोट की आवश्यकता होती है । उनका यह संकेत ब्रिटिश सरकार की ओर था । परोक्ष में भारतवासियों को जगाने का उद्देश्य ही प्रमुख रहा था ।

इस बम विस्फोट से एसेम्बली में भगदड़ मच गई । पूरा हॉल धुएँ से भर गया । अंग्रेजों ने इस प्रकार के विस्फोट की कल्पना स्वप्न में भी नहीं की थी । भगतसिंह चाहते तो इस स्थिति से बचकर भाग सकते थे अपने साथियों को लेकर । इसका प्रबंध तो पूर्व योजनानुसार ही कर रखा था । बाहर भागने के लिए मोटर साइकिल का प्रबंध था ।

भगतसिंह भागने के लिए नहीं आये थे । वे अपनी पहली भूल को पुन: दोहराना नहीं चाहते थे । उनके महान् उद्देश्य के लिए उनका बलिदान आवश्यक था । इसी के द्वारा वे जन-जन में राष्ट्रीय प्रेम भावना उत्पन्न करना चाहते थे । इसके लिए उनका बंदी होना आवश्यक था ताकि न्यायालय के समक्ष वे अपनी मन की भावनाओं को बता सकें-अपने उस उद्देश्य को स्पष्ट कह सकें जिसके लिए उन्होंने हिंसा का औचित्य स्वीकार किया था ।

भगतसिंह के महान उद्देश्य की पूर्ति के दर्शन जनता में होने लगे थे । इनके बंदी हो जाने के कारण क्रांतिकारियों के प्रति जन मानस में नया आकर्षण और श्रद्धा भाव जागा । जनता इन कानून विरोधी कृत्यों के पीछे जो उद्देश्य, जो आदर्श छिपा था उसको समझने लगी थी । नव जागरण की एक लहर उठने लगी थी ।

क्रांतिकारियों का नेतृत्व भगतसिंह ही कर रहे थे । उनका जेल में बंदी हो जाना उनके साथियों को असह्य हुआ । इन क्रांतिकारियों को भयंकर कैदी समझ कर लाहौर के किले में रखा गया जो जेल व गुप्तचर विभाग दोनों का ही मुख्यालय था । इनके अधिकारी अपने कैदियों को भयंकर यंत्रणा देने के लिए कुख्यात थे । जेल के उच्चाधिकारी खान बहादुर अब्दुल अजिद ने इन देश भक्तों को अमानुषिक

यंत्रणाएँ दी । भगतसिंह तथा उनके मित्र उन्हें हँसते-हँसते झेलते रहे । राष्ट्र की स्वतंत्रता जैसे महान् आदर्श के सम्मुख शरीर को दी जाने वाली यंत्रणा उनके लिए नगण्य ही सिद्ध हुई । मनुष्य को दु:ख-कष्टों की अनुभूति अपनी भावनाओं से होती हैं । उन्हें इस यंत्रणा में अद्‌भुत सुख मिला था ।

इधर न्यायालय में इनके अभियोग पर विचार हो रहा था । इन्हें मृत्यु दंड से हल्का दंड तो मिलने वाला न था ।

इनके अन्य क्रांतिकारी मित्र पहले ही भगतसिंह के बंदी होने से क्षुब्ध थे । उन पर होने वाले इन अत्याचारों को सुनकर वे चुप कैसे बैठते । किसी भी तरह उन्हें मुक्त कराने को कृत संकल्प हो चुके थे, उसे पूरा करने के लिए वे तत्परता से तैयारियाँ करने लगे ।

तब तक भगतसिंह को लाहौर से बोरस्टाल जेल भेज दिया गया था, लाहौर के न्यायालय में उन पर अभियोग चल रहा था । इसके लिए उन्हें सदैव बोरस्टाल जेल से गाड़ी में बैठाकर ले जाया जाता था । इसी मार्ग पर मोटरगाड़ी से उन्हें छुड़ाने की योजना बनाई गयी थी । इस योजना के सूत्रधार चंद्रशेखर आजाद थे ।

संपूर्ण भारत के क्रांतिकारी लाहौर में एकत्रित हो गए । मोटर साइकिलों तथा मोटरगाड़ियों का प्रबंध किया जा चुका था । मुक्त करा कर उन्हें छिपा कर रखने के लिए गुप्त मकानों का प्रबंध भी हो चुका था । बनाये गए बम, पिस्तौलें तथा हथियार जुटा लिए गए थे । शहीद भगवती चरण इनमें से एक बम का परीक्षण करते हुए ही दिवंगत हो गए थे ।

यह सब कुछ सरदार भगतसिंह से छिपा न था । वे भी इस योजना में ऊपरी मन से सहमत हो चुके थे । समय, स्थान तथा कार्यक्रम का निर्धारण भी हो चुका था । उसे क्रियान्वित करने हेतु भगतसिंह की स्वीकृति भी ली जा चुकी थी । किन्तु उनका लक्ष्य दूसरा ही था ।

अपने इस लक्ष्य को उन्होंने उसी दिन स्पष्ट किया जिस दिन यह सब होने जा रहा था । दो चार व्यक्तियों के पीछे इतने लोगों की जान जोखिम में डालना उन्होंने उचित न समझा था । वे इस बात से अनभिज्ञ न थे कि महत्व भगतसिंह को दिया जा रहा है और असल में दिया जाना चाहिए राष्ट्र के स्वतंत्रता आंदोलन को । क्रांतिकारियों को जेल से छुड़ाने के चक्कर में आंदोलन कमजोर हो जायेगा । अत: वे इस योजना को कार्यान्वित नहीं करना चाहते थे । उनकी झूठी सहमति का लक्ष्य यह था कि उस बहाने क्रांतिकारियों की एकता दृढ़ हो जायेगी ।

वही हुआ जैसा कि भगतसिंह चाहते थे और जिस असहमति की आशा क्रांतिकारियों ने कदापि नहीं की थी। पूर्व नियोजित योजनानुसार भगतसिंह छद्मवेश में खड़े क्रांतिकारियों के नेता को योजना कार्यान्वित करने का संकेत देने वाले थे पर वैसा कुछ नहीं हुआ। बंदियों को सेंट्रल जेल ले जाने के लिए बोरस्टाल जेल के द्वार पर लारी तैयार खड़ी थी। जब भगतसिंह को लाया गया तो उन्होंने संकेत दिया-"नहीं यह सब नहीं होगा। इस पर क्रांतिकारी यही समझे कि आज कोई खतरा होगा, आगे किसी दिन पूरा किया जायेगा।"

दूसरे दिन उनका मंतव्य जानने को जेल पहुँचा। उनसे मनाही का कारण पूछा तो उन्होंने बताया-"यह उचित नहीं रहेगा कि चंद व्यक्तियों की जान बचाने के लिए हम कितने ही देशभक्तों का रक्त बहा दें। हम अपना सर्वस्व त्याग कर जिस उद्देश्य के लिए इस क्रांतिपथ पर आये हैं वह इसका आदेश नहीं देता। हम अपना कफन सिर पर बाँध कर निकले हैं। पर यह सदैव ध्यान रखना होगा कि महत्ता व्यक्ति की नहीं आदर्श की है। हमें ही श्रेय मिले, हमसे ही क्रांति होगी, देश स्वतंत्र होगा ऐसा तो हम नहीं सोचते किन्तु यह कार्य हमें ऐसा ही सिद्ध करेगा। हमारे बलिदान से हमारे आदर्शों को बल मिलेगा तो कल सहस्रों भगतसिंह तैयार हो जायेंगे। भारत स्वतंत्र होकर रहेगा।"

क्रांति द्रष्टा भगतसिंह के इन शब्दों में जो सत्य छिपा है उसे समय की परिधि में नहीं बाँधा जा सकता पर आज भी आदर्शों के लिए जीवन समर्पित करने की परंपरा को बनाये रखना आवश्यक है।

सहकारिता ने गवर्नर बनाया

आगे पढ़ने की बहुत इच्छा थी पर करते क्या, पास में तो गुजारे का भी प्रबंध नहीं था । युवक ने सोचा बाहर चलना चाहिए । आजीविका और पढ़ाई के खर्चे का प्रबंध अपने आप करके पढ़ना चाहिए, पर पढ़ना अवश्य है ।

ऐसा निश्चय करके उसने अभिभावकों से किसी प्रकार २० रुपये और किराये का प्रबंध करा लिया और बंबई चला आया ।

उन दिनों बंबई इतनी मँहगी नहीं थी जितनी आज है । पाँच रुपये मासिक पर मकान किराये में मिल जाता था । पर जिसके पास आदि से अंत तक कुल २० रुपये ही थे उसके लिए पाँच रुपये ही पहाड़ के बराबर थे । अब क्या किया जाय ? यदि ५) रु. मासिक किराये का कमरा लेता हूँ तो २० रुपये कुल ४ महीने के किराये भर के लिए हो जायेंगे ? इस विचार-चिंतन के बीच युवक को एक उपाय सूझा-सहयोग और सहकारिता का जीवन ।

एक सींक बुहारी नहीं कर सकती, अकेला व्यक्ति सेना नहीं खड़ा कर सकता । एक लड़के के लिए एक स्कूल खुले तो संसार की अधिकांश धनराशि पढ़ाई-लिखाई में चली जाये । यों कहें कि रहने के मकानों के लिए स्थान ही न रहे, हर स्थान स्कूल बन जाये । ऐसी दिक्कतों से बचने के लिए सहकारिता एक देवता है जिसमें छोटी-छोटी शक्तियाँ, एकताबद्ध होकर करके अनेक महत्वपूर्ण साधन-सुविधायें जुटा लेते हैं, छोटी-छोटी शक्तियाँ मिलकर बड़ी शक्ति बनकर बड़े लाभ अर्जित कर ले जाते हैं । जिस समाज, जिन देशों में सहयोग और सहकारिता का भाव जितना अधिक होगा वह देश, वह समाज उतना ही सुखी, सशक्त और समुन्नत होगा ।

ऐसे उदाहरण युवक के लिए प्रकाश बन गए । उसने अपनी तरह के ४ और निर्धन विद्यार्थी खोज लिए और एक कमरा ५) रु. मासिक पर किराये में ले लिया । प्रत्येक लड़के को अब १) रु. मासिक देना होगा । इस तरह जो २० रुपये केवल ४ माह के किराये भर के लिए पर्याप्त थे यदि उन्हें किराये में ही खर्च कर दिया जाता तो ५ गुना अधिक समय अर्थात् २० महीने के लिए पर्याप्त होते ।

फिर आई भोजन की समस्या । अकेले भोजन पकाते तो २० रुपये एक ही

महीने के लिए होते । लकड़ी, कोयले, बर्तन एक व्यक्ति के लिए भी उतने ही चाहिए जितने में ५ व्यक्ति आराम से खाना बनाकर खा लेते । व्यक्तिवाद सामूहिकता से हर दृष्टि से पीछे है । सामूहिक परिवार आज भी आर्थिक और भावनात्मक दृष्टि से बड़े लाभदायक हैं । पहले तो उन्हें इस वैज्ञानिक लाभ के कारण ही प्रतिष्ठापित किया गया था । आज भी यदि कई-कई व्यक्ति मिलकर खाने-पीने, रहने, काम करने की आदत डालने का प्रयत्न करें तो वे उन लाभों को स्पष्ट अनुभव कर सकते हैं ।

युवक ने इस समस्या का समाधान भी ऐसे ही किया । एक ऐसा ढाँबा ढूँढ़ लिया जिसमें कई लोगों का खाना एक साथ पकता था । यह भी उसमें सम्मिलित हो गए । मासिक खर्च कुल ५ रुपया आया । जो पैसे एक ही महीने में खाना देने भर के लिए थे अब उनसे कम से कम ४ माह की निश्चिंतता हो गयी ।

अब रही बात पढ़ने की सो वह एक स्कूल में भरती हो गया । किताबों का खर्च था उसे भी सामूहिकता के स्वरूप पीटिट नामक पुस्तकालय ने पूरा कर दिया । अनेक लोगों के सहयोग और चंदे से बना पुस्तकालय न होता तो उससे इस युवक की तरह सैकड़ों-हजारों लोगों की ज्ञानार्जन की पिपासायें अतृप्त ही न रह गई होतीं । एक रुपये की सदस्यता से जब तक पढ़ा इस स्कूल की पुस्तकें काम देती गईं । आप विश्वास नहीं करेंगे पर उसने इसी तरह एडवोकेट बनने तक की शिक्षा पाई । इस बीच वह कई स्थानों पर लिखने का काम करता रहा जिससे वह कपड़े-लत्ते, शाक-भाजी का खर्च निकालता रहा । इस युवक का नाम था कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी (के० एम० मुंशी) जो एक समय उत्तरप्रदेश के गवर्नर पद तक पहुँचे और जो देश के माने हुए साहित्यकार एवं राजनैतिक नेता थे ।

नियमों के सामने छोटे-बड़े सब एक हैं

मैसूर के दीवान की हैसियत से वे राज्य का दौरा कर रहे थे । एक गाँव में वे अकस्मात बीमार पड़ गए । ऐसा तेज ज्वर चढ़ा कि दो दिन तक चारपाई से न उठ सके । गाँव के डाक्टर को उनकी बीमारी का पता चला तो भागा-भागा आया और उनकी देखभाल की । उसके अथक परिश्रम से वे अच्छे हो गए ।

डाक्टर चलने लगे तो उन्होंने २५ रुपये का चैक उनकी फीस के बतौर हाथ में दिया । डाक्टर हाथ जोड़कर खड़ा हो गया और कहने लगा-"साहब ! यह तो मेरा सौभाग्य था कि आपकी सेवा करने का अवसर मिला । मुझे फीस नहीं चाहिए ।"

चैक हाथ में थमाते हुए उन्होंने कहा-"हर बड़े आदमी की कृपा छोटों के लिए दंड होती है । आप ऐसे अवसरों पर फीस इसलिए ले लिया कीजिए, ताकि गरीबों की बिना फीस भी सेवा कर सकें । ऐसा न किया कीजिए कि दवायें किसी और पर खर्च कर पैसे किसी और से वसूल करें ।"

यह थी उनकी महानता । जहाँ बड़े लोग अपनी सेवा मुफ्त कराने, अनुचित और अत्यधिक सम्मान पाने में बड़प्पन मानते हैं वहाँ उन्होंने परिश्रम, नियमितता और कर्तव्यपालन में ही गौरव अनुभव किया और यदि यह कहा जाय कि अपने इन्हीं गुणों से उन्होंने एक साधारण व्यक्ति से उठकर देश के सर्वाधिक ख्याति लब्ध इंजीनियर का पद पाया तो कोई अतिशयोक्ति न होगी । वे नियम पालन में डाक्टर के सामने क्या बड़े-से-बड़े व्यक्ति के सामने भी उतने ही तटस्थ रहे । कभी लचीलापन व्यक्त नहीं किया ।

उन्हें भारत-रत्न की उपाधि दी गई । अलंकरण समारोह में उपाधि ग्रहण करने के लिए वे दिल्ली आये । नियम है कि जिन्हें भारत-रत्न की उपाधि से विभूषित किया जाता है वे राष्ट्रपति के अतिथि होते हैं और राष्ट्रपति भवन में ही निवास करते हैं । उन्हें भी वहीं ठहराया गया । राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्र प्रसाद प्रतिदिन उनसे मिलते थे और उनके सान्निध्य में हर्ष अनुभव करते थे ।

एक दिन जब राष्ट्रपति उनसे मिलने गए तो उन्होंने देखा कि वे अपना सामान बाँध रहे हैं और जाने की तैयारी कर रहे हैं । उन्होंने आते ही पूछा-"आप यह क्या कर रहे हैं ? अभी तो आपका ठहरने का कार्यक्रम है ।"

उन्होंने उत्तर दिया-"हाँ है तो पर अब कहीं दूसरी जगह ठहरना पड़ेगा । यहाँ का यह भी तो नियम है कि कोई व्यक्ति तीन दिन से अधिक नहीं ठहर सकता ।" राष्ट्रपति बोले-"आप तो अभी यहीं रुकिये ।" तो उन्होंने कहा-"नियमों के सामने छोटे-बड़े सब एक हैं । मैं आपका स्नेह पात्र हूँ इस कारण नियम का उल्लंघन करूँ तो सामान्य लोग दुःखी न होंगे क्या ?" और यह कहकर उन्होंने अपना सामान उठवाया, बाबू जी को प्रणाम किया और वहाँ से चले आये । शेष दिन दूसरी जगह ठहरे पर राष्ट्रपति के बहुत कहने पर भी वहाँ न रुके ।

नियम पालन से मनुष्य बड़ा बने, केवल पद और प्रतिष्ठा पा लेना ही बड़प्पन का चिह्न नहीं । सूर्य-चंद्रमा तक सनातन नियमों की अवहेलना नहीं करते हुए ही पूज्य और प्रतिष्ठित हैं तो समुचित कर्तव्य और नियमों के पालन से मनुष्य का मूल्य कैसे घट सकता है ? भले ही काम कितना ही छोटा क्यों न हो ।

वह थे देश के महान् इंजीनियर 'मोक्षगुंडम् विश्वेश्वरैया' जिनकी प्रतिष्ठा और प्रशंसा भारतवर्ष ही नहीं इंग्लैंड और अमेरिका तक में होती थी । पद के लिए नहीं वरन् कार्यकुशलता, नियम पालन, अनुशासन और योग्यता जैसे गुणों के लिए ।

समय से मूल्यवान सत्य है

पश्चिम बंगाल के भूतपूर्व मुख्यमंत्री डॉ० विधान चंद्र राय अपने विद्यार्थी जीवन में बड़े तेजस्वी, मेधावी तथा अध्ययनशील छात्र थे । प्रायः अपनी कक्षाओं में वे सर्वप्रथम आते । वर्ण्य घटना उस समय की है जब वह कालेज के तीसरे वर्ष में पढ़ रहे थे ।

जिस कालेज में वे पढ़ते थे उसके फाटक के सामने एक प्राध्यापक की मोटर-कार से दुर्घटना हो गयी । यह दुर्घटना प्राध्यापक महोदय द्वारा की गयी असावधानी के कारण घटी थी और डॉ० राय भी उनकी ही कक्षा में पढ़ते थे । इस दुर्घटना की खबर कोतवाली तक पहुँची और पुलिस ने जाँच की । घटना स्थल पर जो जो व्यक्ति उपस्थित थे उनकी भी साक्षी ली गयी । साक्षी देने वालों में डॉ० राय भी थे ।

अदालत में प्राध्यापक के ऊपर केस चला । विधान चंद्र साक्षी के लिए

अदालत में प्रस्तुत हों इससे पूर्व ही प्राध्यापक महोदय ने उन्हें अपने पक्ष में गवाही देने के लिए कहा । राय ने स्पष्ट कहा कि तथ्यों को छुपाकर न्याय की हत्या करने का साहस मुझमें नहीं है । प्राध्यापक ने उन्हें बहुत बहलाया, फुसलाया परंतु राय ने एक न सुनी और न ही मानी । अंत में सब प्रयत्न विफल जाते देख प्राध्यापक ने उन्हें घाटे में रहने की धमकी भी दी । परंतु इस धमकी का भी उन पर कोई प्रभाव नहीं हुआ ।

अदालत में प्रत्यक्षदर्शी गवाह के रूप में राय ने जो भी घटना देखी थी उसका आँखों देखा विवरण यथातथ्य सुना दिया । उन्होंने स्पष्ट बताया कि दुर्घटना प्राध्यापक महोदय की असावधानी के कारण हुई है तथा इसके लिए वे ही दोषी हैं । घटना स्थल पर उपस्थित अन्य व्यक्तियों में से कई ने इस प्रकार के बयान दिए थे । कुछ छात्रों ने जो वहाँ उपस्थित नहीं थे, प्राध्यापक के पक्ष में झूँठ-मूँठ ही बयान दे डाले, लेकिन राय की आँखों देखा विवरण तथ्यपूर्ण और अधिक प्रामाणिक जँचा तथा न्यायाधीश ने प्राध्यापक को दोषी पाया । इस अपराध के दंड स्वरूप जुर्माना हुआ ।

इस मामले में प्राध्यापक ने जुर्माना तो भर दिया परंतु राय के प्रति उनके मन में निन्द्य प्रतिशोध की भावना घर कर गयी । यह बात उन्होंने मन में गाँठ बाँध ली और प्रतिशोध का अवसर भी शीघ्र आ गया । कुछ दिनों बाद विद्यालय की परीक्षाएँ हुईं । राय ने परीक्षा की तैयारी पूरे मन से की थी । परिश्रमपूर्वक पढ़ा था और प्रत्येक प्रश्नपत्र को ठीक-ठीक हल किया था ।

उक्त प्राध्यापक ने अपने साथियों पर अपने प्रभाव का उपयोग कर राय को अनुत्तीर्ण करा दिया । यही नहीं, अपने विषय में भी बहुत कम अंक दिये जिससे वे पूरक परीक्षाओं में भी बैठ नहीं सके । इस परिणाम की किसी को भी आशा नहीं थी । छात्रों में राय का अच्छा स्थान था । अतः वे लोग भी दुःखी हुए जो स्वयं तो उत्तीर्ण हुए थे परंतु अपने मेधावी साथी से आगे निकल गये थे ।

सब लोगों को आश्चर्य था परंतु राय जरा भी विस्मित नहीं हुए थे । वे इस प्रकार के परिणाम का कारण समझ चुके थे कि उन्हीं प्राध्यापक महोदय की कृपा है यह, जिन्होंने अपने पक्ष में गवाही देने के लिए फुसलाया, बहकाया और धमकाया भी था ।

एक बार उक्त प्राध्यापक की भेंट राय से हुई । उन्होंने पूछा-"जानते हो विधानचंद्र, तुम क्यों अनुत्तीर्ण हुए ?"

"हाँ भली-भाँति जानता हूँ । जानता ही नहीं मुझे इसका पूर्वानुमान भी था ।"

"तो जान-बूझकर भी तुमने ऐसी चेष्टा क्यों की । मेरे पक्ष में गवाही देते तो तुम्हारा यह वर्ष यों ही जाने से तो बच जाता ।"-प्राध्यापक बोले ।

"वर्ष बरबाद जाने का मुझे कोई रंज नहीं है । रंज तो तब होता जब अपनी आत्मा का हनन कर सत्य को छुपाता क्योंकि मेरी दृष्टि में सत्य वर्ष से भी अधिक मूल्यवान है"-विधान चंद्र राय का यह उत्तर था ।

कारुणिक संवेदनशीलता

बंगला भाषा के प्रख्यात साहित्यकार शरतचंद्र चट्टोपाध्याय की कृतियों में जो सजीव प्राण हैं, वे प्राण उनके व्यक्तित्व और अंतस् से ही प्रसूत हुए हैं । वस्तुतः किसी भी रचनाकार की कृतियाँ उसकी कलम से नहीं उसके हृदय से ही अनुप्राणित होती हैं । शरत बाबू के एक निकटवर्ती मित्र ने उनकी इस प्राणदायिनी क्षमता का उल्लेख करते हुए लिखा है-"संसार में मनुष्य का मनुष्य के प्रति जो कर्तव्य और सहज भाव है, शरतचंद्र की कृतियों में वही भाव गहरी अनुभूतियों और मस्तिष्क के विचारों द्वारा जीवन के विश्लेषण के रूप में मूर्तिमान हो उठा है । समाज के जो कलुष हैं, जो विद्रूप हैं उसे देखकर शरतचंद्र विचलित हो उठते हैं । उनकी यह संवेदनशील करुणा ही उनकी रचनाओं में हमें डुबो देती है ।"

एक बार की घटना है । रात अधिक हो गयी थी और शरत बाबू अपने मित्र के घर से लौट रहे थे । साथ ही मित्र दम्पत्ति श्री नरेन्द्र देव और श्रीमती राधा रानी भी थे । साढ़े दस-ग्यारह बजे का समय हुआ होगा, यातायात कम हो चला, तीनों बातें करते हुए चले जा रहे थे । मंडितिया रोड़ के एक मोड़ पर पहुँच कर उन्होंने देखा तीन-चार लोग एक वृक्ष के नीचे जोर-जोर से बातें कर रहे थे । उन व्यक्तियों की कुछ बातें शरत बाबू के कानों तक भी पहुँची और वे सुनकर ठिठके । साथी भी रुक गए । तभी वृक्ष के नीचे खड़े व्यक्तियों में से किसी एक ने कहा-"महोदय, जरा सुनिये तो ।"

तीनों उधर की ओर चल दिए । जाकर देखा लाल कपड़े में लिपटा हुआ

एक नवजात शिशु पड़ा हुआ है । कहना नहीं होगा पथ भ्रष्ट-यौनाचार के ही परिणाम स्वरूप कोई युवती या महिला अपने मातृत्व का बेतरह गला घोंट कर यह दुष्कृत्य कर गयी थी । सद्य:जात बालक को जब देखा शरत बाबू ने उस समय उसके शरीर पर चींटियाँ रेंग रही थीं और उनके काटने से उसकी देह में स्थान-स्थान पर लाल रंग चढ़ गया था । शरत बाबू ऐसी स्थिति में कैसे घर जा सकते थे । वहाँ उपस्थित लोगों के साथ विचार-विमर्श कर उन्होंने निश्चय किया कि बालक को अस्पताल भिजवा दिया जाय ताकि संसार में हाल ही आया यह अतिथि यों ही न बिदा हो जाये ।

अस्पताल वालों को इसकी सूचना देने और शिशु को वहाँ भिजवाने की व्यवस्था करने के लिए शरत बाबू ने अपने मित्र नरेन्द्र को पास ही कहीं मिल जाये तो फोन करने के लिए कहा और खुद बच्चे के आधार की व्यवस्था में लगे-जन्म लेने के बाद से अभी तक जिसके गले से कुछ भी नहीं उतरा था । दूध तो बच्चे ने नहीं पिया, शहद अवश्य उसके गले से नीचे उतरा । फिर वे नरेन्द्र के पास पहुँच गए जो पास ही एक मिठाई वाले की दुकान पर अस्पताल वालों को फोन कर रहा था ।

अस्पताल वालों ने इस प्रकार मिले अवांछित बालक को लेने से इन्कार कर दिया । नियमानुसार पहले इसकी सूचना पुलिस को देनी पड़ती थी । अत: पुलिस को फोन किया गया । पुलिस स्टेशन से तत्काल कोई आने को तैयार नहीं हुआ । नरेन्द्र ने पुलिस को शरत बाबू का हवाला दिया तो वहाँ से आदमी भेजने की व्यवस्था की गयी ।

कुछ देर बाद दो पुलिसमैन घटनास्थल पर आये । शरत बाबू और उनके साथी तब तक वहीं खड़े रहे । बच्चे को पुलिस के सुपुर्द करने तथा उसकी व्यवस्था करने में रात के दो बज गए पर शरत बाबू के चेहरे पर न विषाद आया और न सुस्ती । वे उसी प्रकार बच्चे की उपयुक्त व्यवस्था में लगे रहे । कलकत्ता जैसे शहर में इस प्रकार की घटनायें उस समय भी कोई खास महत्व नहीं रखती थीं पर शरत बाबू के समक्ष कहीं कोई जीवन तड़प कर प्राण छोड़ जाय, उनसे सहन नहीं हो सकता था ।

यही कारुणिक संवेदनशीलता उनके साहित्य को वह शक्ति दे गयी जो पाठक को भी करुणार्द्र कर जाय तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ?

माँ सरस्वती के उपासक

"प्रात:काल किसी से भेंटवार्ता संभव न हो सकेगी, अत: इसके लिए आग्रह न करें"-इस आशय की तख्ती दरवाजे से बाहर लटकी देखकर आगंतुक कुछ ठिठके और फिर चुपचाप लौट गए ।

लौटने वाले सज्जन थे हिन्दी के राष्ट्र कवि मैथिलीशरण गुप्त और जिनके घर यह तख्ती टँगी थी वे थे हिन्दी साहित्य को एक नया आयाम देने वाले साहित्यकार आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ।

मैथिलीशरण लौट तो गए, पर मन में यह असमंजस बना ही रहा कि दूसरों के लिए इतने उदारवादी लगने वाले व्यक्ति ने किस कारणवश इतना कठोर नियम बना लिया कि दूर से आए मेहमान को भी लौटना पड़ जाये । बार-बार यही प्रश्न उनके मन में उठता रहा, पर किसी निष्कर्ष पर पहुँच न सके । अत: उनसे मिलकर इस बारे में जानने की इच्छा और भी प्रबल हो उठी ।

शाम को जब वे महावीर प्रसाद द्विवेदी के घर पहुँचे तो कमरे में वे पत्र लिखने में व्यस्त दिखाई पड़े, पर सामने मैथिलीशरण को देखकर उनने लिखना बंद कर दिया । औपचारिकतावश उठे और उन्हें भी सामने की कुर्सी पर बैठने का इशारा किया । घर-परिवार की औपचारिक जानकारी के बाद मैथिलीशरण से और नहीं रहा गया । उन्होंने बाहर लटकती तख्ती के बारे में पूछ ही डाला कि इतने कठोर नियम का क्या मतलब है ?

"मैं प्रात: माँ सरस्वती की साधना करता हूँ, अत: इतना सख्त नियम बनाना पड़ा, यह जानते हुए भी कि इससे अनेक लोगों को कष्ट पहुँचेगा । पर क्या करूँ, विवश हूँ ।"-सपाट-सा उत्तर मिला ।

"पर यह साधना आखिर चलती कितनी देर है ? क्या इतनी लंबी होती है कि मेहमान से प्रतीक्षा करवाना भी निरर्थक समझते हैं ?"

"हाँ"-उत्तर मिला-"प्राय: यह दो घंटे की होती है, किन्तु यदा-कदा समय अधिक रहने पर यह तीन-चार घंटे तक भी चलती है ।"

"तब तो आप बहुत बड़े उपासक हैं, मगर आपके कमरे में पूजा-सामग्री, चित्र आदि कुछ भी तो दिखाई नहीं पड़ते, फिर आप कैसे भक्त हैं ?"-मैथिलीशरण ने आश्चर्य व्यक्त किया ।

द्विवेदी जी ने उनका आशय समझते हुए भ्रम निवारण किया। आल्मारी और टेबुल पर रखी पुस्तकों की ओर इशारा करते हुए बोले-"यही मेरी पूजा-सामग्री एवं इष्ट आदि सब कुछ हैं। मैं इन्हीं की साधना करता हूँ।"

"तो क्या आप अध्ययन करते रहते हैं ?"

"निस्संदेह, मैं यह समय स्वाध्याय और अध्ययन में बिताता हूँ। आप तो जानते ही हैं कि रेलवे की व्यस्त नौकरी से सुबह का यही समय निकाल पाता हूँ, शाम को ड्यूटी से आने के बाद इतना थका होता हूँ कि तन्मयतापूर्वक पढ़ नहीं पाता। इसलिए यह समय मिलने-जुलने वालों के लिए नियत रखा है और सुबह का समय अपनी योग्यता संवर्द्धन के लिए।"

कुछ सुस्ताते हुए उन्होंने आगे कहना प्रारंभ किया-"एक साहित्यकार होने के नाते समय की कीमत से तो आप भली-भाँति अवगत हैं। मैं इसे हीरे-मोतियों जैसा मूल्यवान मानता हूँ और जिसने इसके एक-एक क्षण को ऐसा मानते हुए सदुपयोग किया है, विश्व में उन्नति-प्रगति वही कर पाया है।"

मैथिलीशरण उनके इस उत्तर से संतुष्ट नजर आ रहे थे।

बासी रोटी और दाल पर जैसे-तैसे जीवन निर्वाह करने वाले इस साधक ने अपनी बाल्यावस्था से ही यदि अपने जीवन में समय-संयम का महत्व न समझा होता, तो संभवत: आज वह एक अनजान बालक से चिरपरिचित साहित्यकार न बना होता। यह उनकी मेहनत और समय के सदुपयोग का ही फल है कि एक निरक्षर परावलंबी बालक नितांत असहाय स्थिति में स्वयं के बलबूते पर हिन्दी, अंग्रेजी और संस्कृत के अधिकारी विद्वान बन सके। उर्दू में भी थोड़ी बहुत गति रखते थे। ड्यूटी से आने के बाद जब समय मिल जाता, तो वे संस्कृत का ही अध्ययन किया करते थे और इस प्रकार इन्हीं थोड़े क्षणों के सदुपयोग से संस्कृत में इतना अधिकार प्राप्त कर लिया था कि वे कविता भी करने लगे थे। समय का सदुपयोग ही तो महापुरुषों की विशेषता होती है।

गरीबों का मसीहा

"उफ ! यह कलमुँही गरीबी भी कितनी जालिम है ! कैसी सिर चढ़कर बोल रही है इन दिनों ! जिसके पीछे पड़ गयी, तो फिर उसकी कमर ही तोड़ डालती है । हाय ! भूख से कैसे बिलबिलाते रहते हैं उनके बच्चे ! और माँ चौबीसों घंटे काम-काम । बच्चों की खातिर मशीन की तरह काम करना भी तो पड़ता है, फिर भी यह शैतान पेट भरने का नाम ही नहीं लेता ! पिता कठिन परिश्रम करके भी जब आर्थिक दशा सुधार नहीं पाता तो लाचार होकर परिस्थितियों से समझौता कर लेता है । और चारा भी क्या है ! समझौता नहीं करे, तो और क्या करे ? हे भगवान ! तुम्हारी सृष्टि में यह विषमता कब तक चलती रहेगी ।"

महाकवि निराला इन्हीं विचारों में डूबते-उतराते पैदल चले जा रहे थे । कई दिनों का उपवास ! और उस पर पैदल ! पैर साथ नहीं दे रहे थे, किन्तु फिर भी वे किसी प्रकार चले जा रहे थे । क्या करते और कोई गुंजायश भी तो नहीं थी । जेब में एक फूटी कौड़ी तक नहीं थी कि इक्का-ताँगा कर लेते । गरीबी के मसीहा को तो गरीब बनकर ही जीना पड़ता है, क्योंकि उनकी दरिद्रता उनसे देखी कहाँ जाती ? वे स्वयं ऐश-मौज करें और उनके दूसरे भाई भूखों-नंगों की तरह रहें-ऐसी कल्पना तो उनमें स्वप्न में भी नहीं उठती ।

इन्हीं परिस्थितियों में सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' दारागंज से लीडर प्रेस चले आ रहे थे, ताकि प्रेस से रायल्टी के कुछ पैसे मिल सकें, तो क्षुधा तृप्त हो । प्रेस से रायल्टी के १०४ रुपये लेकर, इक्के में सवार होकर अपनी मुँह बोली बहन महादेवी के निवास की ओर चल पड़े । इक्का अभी थोड़ी ही दूर बढ़ा था कि एक टेर सुनाई दी-"बेटा ! इस अभागिन भूखी को भी कुछ मिल जाय ।"

निराला ने इधर-उधर देखा तो ज्ञात हुआ कि पुकार उन्हीं को लक्ष्य करके की गयी है, तो इक्का रुकवाया, स्वयं उतरे और सड़क के किनारे बैठी बूढ़ी भिखारिन के पास जा पहुँचे । अंतर में उठती करुणा को रोक न सके, बोले-"माँ ! हमारे रहते तुम्हें भीख माँगनी पड़े, यह कैसे हो सकता है ?"

"और क्या करूँ बेटा !"-बुढ़िया ने अपने क्षीण स्वर में कहा-"हाथ-पैर चलते नहीं । जब तक ठीक रहे तब तक मैंने भी स्वाभिमानवश किसी के सामने हाथ नहीं फैलाया और पसीने की कमाई से अपना और अपना परिवार पालती रही, पर

अब तो मैं बेटों को फूटी आँखों भी नहीं सुहाती । जिनके लिए मैंने अपना खून-पसीना एक किया, आज उन्हीं लोगों ने दूध की मक्खी की तरह निकाल कर फेंक दिया है । पेट पालने के लिए कुछ तो करना ही था, सो इसे विवश होकर अपना लिया । किसी प्रकार यह बूढ़ा पेट भर जाता है ।''

कवि हृदय तड़प उठा । पूछा-''यदि एक रुपया दे दूँ, तो कब तक भीख नहीं माँगोगी ?''

''कल तक''-उत्तर मिला ।

''यदि पाँच रुपये दे दूँ, तो'' ।

''पाच दिन तक भीख नहीं माँगनी पड़ेगी''-बुढ़िया ने जबाव दिया ।

कवि ने रायल्टी की पूरी राशि एक सौ चार रुपये दे देने की बात कही तो बुढ़िया ने फिर कभी भीख न माँगने और इससे कोई धंधा कर लेने का संकल्प लिया ।

महाकवि सारी राशि बुढ़िया को दे स्वयं खाली जेब इक्के में बैठकर महादेवी के घर की ओर चल पड़े जहाँ किराया भी महादेवी जी ने ही चुकाया । ऐसा था उनका विशाल कवि हृदय । आज भी उनकी आत्मा चीख-चीख कर कह रही है कि मानवता हृदय की विशालता से आती है, भौतिक सम्पन्नता से नहीं ।

पत्रकारिता का आदर्श

बालमुकुंद गुप्त

दरवाजे पर थपथपाहट हुई और अंदर कमरे में नीचे फर्श पर दरी बिछाकर बैंठे चौकी पर कागज रखकर लिख रहे गुप्तजी ने छोटे लड़के को आवाज देते हुए कहा-''देखना बेटा । कौन आये हैं ।''

छोटे लड़के ने अपने पिता की आवाज सुनकर दरवाजा खोला और एक सज्जन अंदर प्रविष्ट हुए । गुप्तजी उन्हें देखकर तुरंत खड़े हो गए-''बहुत दिनों में दिखाई दिए हो मित्र ! कहाँ हो आजकल, क्या कर रहे हो ?''

आगंतुक सज्जन जो गुप्तजी का पुराना मित्र था उनके इन प्रश्नों के उत्तर तो दे

रहा था पर वह घर की स्थिति को बड़ी बारीकी से देख रहा था। सोचा तो यह था कि 'भारतमित्र' जैसे प्रतिष्ठित अखबार के संपादक से मिलने जा रहा हूँ। घर में ठाठ-बाट और रौनक नहीं होगी तो कम से कम मध्य वित्त परिवार जैसी स्थिति तो होगी ही लेकिन यहाँ तो चारों ओर फटेहाली बिखरी पड़ी दिखाई दे रही थी। 'भारत मित्र' हिन्दी दैनिक के संपादक श्री बालमुकुंद गुप्त की कमीज, जो बहुत ही हल्के कपड़े की सिली हुई थी, पीछे वाली दीवार पर खूँटी से टँगी हुई थी। गुप्तजी बहुत ही मोटी निब वाले कलम से जो बहुत ही सस्ते दामों पर मिलती थी, चौकी पर कागज रखकर लिख रहे थे।

और आगंतुक सज्जन इन सब वस्तुओं को, घर के वातावरण को बड़ी बारीक नजर से देख रहे थे। इधर-उधर की बातें चल रही थी। सज्जन अपना मंतव्य कहने ही जा रहे थे कि गुप्तजी का ज्येष्ठ पुत्र कमरे में आया और उसने बाजार से खरीद कर लायी हुई दो कमीजें अपने पिता के सामने रख दीं।

गुप्त जी ने उससे पूछा-"कमीज तो अच्छी हैं। कितने की हैं बेटा!"

"चार रुपये की।"

"चार रुपये की?"-गुप्तजी ने बड़े ही विस्मय और आपत्तिजनक स्वर में कहा-"इतनी मँहगी क्यों खरीदी? इतने में तो घर के सभी सदस्यों के लिए कपड़े बन सकते हैं।"

आगंतुक सज्जन ने कहा-"बच्चे ही तो हैं गुप्तजी! यदि ये अभी अपनी पसंद का खा-पी और पहन नहीं सकेंगे तो कब खायेंगे-पियेंगे।"

"लेकिन यह तो सरासर फिजूल खर्ची है। हमारे परिवार की आर्थिक स्थिति इस योग्य नहीं है कि हम इतने मँहगे कपड़े पहन सकें"-गुप्तजी ने कहा-"रही खाने-पीने की उम्र वाली बात तो उन्हें मितव्ययता अभी से नहीं सिखायेंगे तो कब सिखायेंगे।"

"अर्थाभाव वाली कठिनाई तो मैं दूर किये देता हूँ। मैं इसीलिए आपके पास आया हूँ"-यह कहते हुए आगंतुक मित्र ने पाँच हजार रुपये उनकी चौकी पर रख दिए।

ऐसे चौंक गए गुप्तजी जैसे उन्होंने कोई साँप-बिच्छू देख लिये हों। गुप्तजी ने विस्मय विस्फारित नेत्रों से मित्र की ओर देखते हुए कहा-"क्या मतलब?"

मित्र ने कहा-"यह तो आपको मालूम ही है कि यहाँ की फौजदारी अदालत में दो धनियों के बीच मुकदमा चल रहा है। दोनों पक्षों के सनसनी पूर्ण विवरणों से

यहाँ के दैनिक पत्र भरे रहते हैं परंतु न्याय जिनके पक्ष में नहीं है, वे मेरे मित्र हैं यदि आप अपने 'पत्र' में उनका समर्थन करें तो शायद उन्हें लाभ हो सकता है । इसी के लिए मैं उनकी ओर से ये पाँच हजार रुपये लेकर आया हूँ । आप इन्हें स्वीकार कीजिए ।''

गुप्तजी ने धीर-गंभीर स्वरों में कहा-''मित्र ! तुम गलत समझे हो । अगर अर्थार्जन ही मेरा ध्येय रहा होता तो आप जो अभी चारों ओर घूर-घूर कर देख रहे थे और मेरी गरीबी पर शायद आश्चर्य कर रहे थे, मैं यदि चाहता तो आपको आज आश्चर्य करने का अवसर न मिलता । मुझे संपन्नता से भी अधिक अपना दायित्व प्रिय है । मेरे पत्र का सूत्र ही है-प्रतिष्ठान् रत्नम् । धन के लोभ में पत्र की प्रतिष्ठा मैं किसी भी दशा में नहीं गँवा सकता ।''

और गुप्तजी वापस अपने लेखन कार्य में व्यस्त हो गए ।

'असंभव' शब्द हमारी दुर्बलता का परिचायक है

१८९८ की बात है । मद्रास से निकलने वाले अंग्रेजी पत्र के संपादक सुब्रह्मण्यम अय्यर ने 'हिन्दू' से नाता तोड़ कर तमिल भाषा में अपना पत्र निकालने का निश्चय कर लिया क्योंकि वे इस गुलामी की भाषा से अब नफरत करने लगे थे । इसकी सर्वत्र एक ही प्रतिक्रिया हुई-'असंभव' । किसी न तो यहाँ तक कह दिया-''अय्यर पागल हो गए हैं ।'' किन्तु वे तो इस चुनौती को स्वीकार किये बैठे थे ।

अंग्रेजी लिखने में अय्यर की सानी का पत्रकार भारत तो क्या विदेशों में भी नहीं था । 'हिन्दू' में निकलने वाले उनके संपादकीय को सर एलन ह्यूम लंदन से निकलने वाले टाइम्स से उन्नीस नहीं बीस ही मानते थे । गोपाल कृष्ण गोखले उनकी विलक्षण बुद्धि के कायल थे, लियाकत अली उनकी लेखन कला पर फिदा थे, मालवीय जी उन्हें अपने राजनैतिक गुरु तुल्य मानते थे और अंग्रेजी सरकार उन्हें अपना सिर दर्द मानती थी क्योंकि वे राष्ट्रीय आंदोलन को प्रखर बनाने के लिए

लिखते थे जो कानून विरोधी होते हुए भी उनकी चमत्कारी लेखन व ढंग के कारण पकड़ से परे रहता था ।

यह सब प्रतिष्ठाएँ उन्हें 'हिन्दू' के संपादक होने के कारण मिली थी । यह पत्र उन्होंने अपनी तेईस वर्ष की आयु में साप्ताहिक रूप में निकाला था जो अपनी बढ़ती लोकप्रियता के कारण शीघ्र ही सप्ताह में तीन दिन निकलने लगा था तथा १८८९ में दैनिक हो गया था । उनकी विद्वता की धाक सारे देश में इस पत्र के माध्यम से जम चुकी थी ।

अंग्रेजी भाषा पर जिस व्यक्ति का अधिकार हो, जिसमें वह सिद्धहस्त हो और देशव्यापी ख्याति अर्जित कर चुका हो, वह उस भाषा को छोड़कर ऐसी भाषा में पत्र निकालने की बात सोचे जो थोड़े से लोगों में बोली-समझी जाती हो तो निश्चय ही अपने पाँवों में कुल्हाड़ी मारने जैसी बात होगी । उस भाषा व उस नये पत्र के माध्यम से पुनः वही प्रतिष्ठा पा सकना नितांत असंभव था ।

श्री अय्यर इस असंभव को संभव करने पर तुले हुए थे । वे कहते थे कि हम जो यह सोचते हैं कि यह कार्य मेरी रुचि का है और मेरी प्रतिभा इसी के अनुकूल है वस्तुतः यह हमारी मानसिक गरीबी का द्योत्तक है । बहुत से लोग इसी मानसिक गरीबी से ग्रस्त होकर कोई भी साहस भरा काम नहीं करते हैं । जो कुछ ढर्रा बना है उसी से चिपके रहना चाहते हैं । विवेकपूर्ण बात को मानते हुए भी उसका अनुगमन करने की जोखिम नहीं उठाना चाहते ।

उन्होंने अंग्रेजी 'हिन्दू' से पृथक होकर तमिल में 'स्वदेश-मित्रम्' नामक पत्र निकाला । और वह भी साप्ताहिक या मासिक नहीं वरन् दैनिक । कुछ ही वर्षों में यह पत्र 'हिन्दू' की टक्कर का पत्र बन गया । तमिल भाषी प्रदेश में तो इस पत्र का एक छत्र साम्राज्य ही हो गया । मद्रास प्रांत के निरंकुश लोग उसकी आलोचनाओं से थर-थर काँपने लगे । सरकार के अधिकारियों ने सोचा था कि चलो इनकी पैनी आलोचना से अब बचते रहेंगे पर यह धारणा भी असत्य सिद्ध हो गयी ।

अय्यर महोदय का जो अधिकार अंग्रेजी भाषा पर था, वैसा ही अधिकार उन्होंने तमिल पर भी कर लिया था । उनके जैसे गवेषणा पूर्ण लेख 'हिन्दू' में निकलते थे वैसे ही 'स्वदेश-मित्रम्' में निकलने लगे । कुछ भी अंतर नहीं था । इसके लिए उन्हें नये सिरे से अभ्यास व श्रम करना पड़ा था । किन्तु वे असंभव को संभव बनाने में पूर्ण रूपेण सफल हुए थे । आज जो लोग इस भय से सद्कार्यों में, युग धर्म पालने में हाथ नहीं डालते कि यह असंभव है उनके लिए

यह उदाहरण कम महत्वपूर्ण नहीं है । आज का आदमी यही कहकर अपने उस दायित्व, कर्तव्य से उबर जाना चाहता है कि यह इतना बड़ा काम मुझ एक के प्रयास से कैसे पार हो सकेगा । हर व्यक्ति बस इसी असंभव के भूत से डर जाता है जबकि वह अंधेरे में खड़ा वृक्ष मात्र है जो आत्म विश्वास के प्रकाश के पड़ते ही उजागर हो उठता है ।

जब मन्यु जागा

एस्प्लैनेड (कलकत्ता) का चौराहा । एक बूढ़ा अपना खोमचा फैलाये बैठा था । चने, मूँगफली का ढेर और कुछ रेवड़ियाँ-यही उसकी कुल पूँजी थी । इन्हीं की फेरी से जो कुछ आय होती, उससे किसी प्रकार अपने बूढ़े पेट को भर लेता । सुबह से दोपहर तक वह यहीं बैठता, फिर विक्टोरिया हाउस के मैदान में जा जमता और शाम तक वहीं रहता । दोपहर बाद वहाँ पर्यटकों की भीड़ बढ़ने लगती, इसलिए कुछ अधिक बिक्री के लालच में वह विक्टोरिया ग्राउंड पर चला जाता ।

आज सुबह-सुबह एस्प्लैनेड के चौराहे पर अपना खोमचा लगाया ही था कि एक अंग्रेज युवक उसके सामने आ धमका और कुटिल मुस्कान बिखेरते हुए बूढ़े को घूरने लगा । बूढ़ा भयभीत हो गया, पर अभी वह कुछ समझ पाता कि युवक की लात चली और खोमचे का सामान जमीन पर बिखर गया । वृद्ध डर से काँपने लगा । कातर नेत्रों से उसकी ओर देखते हुए हाथ जोड़ लिए, दया की भीख माँगने के लिए गिड़गिड़ाने लगा, पर घिग्घी ऐसी बँधी कि शब्द गले में अटक कर रह गए ।

"म....म....मा....लिक !......."

अभी वह कुछ और बोल पाता कि तमाचों और घूसों की बौछार शुरू हो गयी । कृषकाय वृद्ध उस प्रहार को बरदाश्त नहीं कर पाया, गिर कर कराहने लगा । इतने पर भी संतोष नहीं हुआ उसे, तड़पते बूढ़े को दो-चार लात लगायीं, बिखरे हुए चने, मूँगफली को जूतों से रौंदते हुए एक भद्दी सी गाली बकी-"यू बास्टर्ड ! सन

ऑफ ए विच !" और फिर गर्वोन्नत से सिर उठाये झूमते हुए आगे बढ़ गया, जैसे उसने कोई बहुत बड़ा मैदान जीत लिया हो । अभी वह आठ-दस कदम ही आगे बढ़ पाया होगा कि उसको अपनी गर्दन किसी बलिष्ठ भुजा के मजबूत पंजों में कसती महसूस हुई । युवक का दम घुटने लगा, पर इसके पूर्व कि वह कुछ समझ पाता, धूल चाटने लगा । आँखें उठायीं तो सामने एक कसरती और गठीले शरीर का कद्दावर नौजवान खड़ा था । आँखों से अंगारे बरस रहे थे । उसने शेर की तरह दहाड़ते हुए कहा-"नामाकूल ! इस दुर्बल वृद्ध पर हाथ उठाते शरम नहीं आयी । तुम्हें इस अक्षम्य अपराध का दंड मिल कर ही रहेगा ।" और फिर लात-घूँसों और थप्पड़ों का घनघोर प्रहार ।

अंग्रेज तड़पने लगा । नाक से खून का फव्वारा फूट पड़ा, किन्तु प्रहार थमने का नाम नहीं । अंततः उस बूढ़े खोमचे वाले ने आकर उसे छोड़ देने का नौजवान से आग्रह किया ।

"उठ दुष्ट ! जा बाबा ने तुझे बख्श दिया, अन्यथा आज तेरी खैर नहीं थी, किन्तु जाने से पहले इसका जो नुकसान हुआ है, उसे देता जा और अपनी दुष्टता की माँफी भी माँग ।"-भारतीय युवक ने गरजते हुए कहा ।

अंग्रेज कराहते हुए उठा और अपनी पैंट की जेब से सौ रुपये का एक नोट बढ़ाते हुए क्षीण स्वर में कहा-"आई बैग यू पार्डन ।" और नथुनों से होते रक्त स्राव को रूमाल से पोंछते हुए लड़खड़ाते कदमों से आगे बढ़ गया ।

"बाबा !" युवक का संबोधन था-"यदि फिर कभी इस दुष्ट ने छेड़ा, तो मैं उस सामने के मकान में रहता हूँ, मुझे बताना, मैं इसकी अच्छी खबर लूँगा ।"

"नहीं बेटा ! इसे किए का दंड मिल चुका है । अब यह मुझे परेशान नहीं करेगा । और तुम भी इसे अब और सजा मत देना । जितनी मिली, उतनी ही काफी है ।"

"खैर छोड़ो ! तुम अपना परिचय तो देते जाओ, तुम्हारा नाम क्या है ?"-बूढ़े ने आग्रह किया ।

"यतीन्द्र नाथ मुखर्जी"-युवक का स्वर था ।

बाघा जतीन से अभी तक वृद्ध का साक्षात्कार तो नहीं हुआ था, पर उसके विषय में उसने सुना अवश्य था कि उसने अकेले ही बाघ से निःशस्त्र लड़कर उसे मार गिराया था ।

अनीति के प्रति आक्रोश जिनके मन में हो, ऐसे बाघा जतीन जिस अवधि में

धरित्री पर जन्मे जन्मभूमि को धन्य कर गए । स्वतंत्रता का महल जिस नींव पर रखा है, उसमें एक मजबूत पत्थर जतीन का भी है ।

महाजनो येन गता स पंथा:

जस्टिस महादेव रानाडे रेलगाड़ी से यात्रा कर रहे थे । रास्ते के एक स्टेशन पर वह उतरे । वहाँ गाड़ी काफी देर तक खड़ी होती थी । एक मित्र से भेंट हो गई । मित्र के आग्रह पर वह उसके साथ डिब्बे में बैठ गए । गाड़ी चलने को हुई तो उससे बात करके वापस लौटे । अपने डिब्बे के पास आकर उन्होंने देखा कि उनका सारा सामान प्लेटफार्म पर पड़ा हुआ है । वह दंग रह गए ।

डिब्बे में बैठे अन्य यात्रियों से पता चला कि एक अंग्रेज यात्री यह सहन नहीं कर सका कि किसी भारतीय का सामान उस डिब्बे में रहे । रानाडे ने चुपचाप अपना सामान उठाया और पुन: उस डिब्बे में रख दिया । अन्य यात्रियों ने कहा भी कि ऐसी सहनशीलता किस काम की । उन्होंने सामान उठाते-उठाते केवल इतना ही कहा-"यदि कोई असभ्यता या अशिष्टता का व्यवहार करे तो हमें अपनी सज्जनता और शिष्टता क्यों छोड़ना चाहिए । यदि बुरा अपनी बुराई नहीं छोड़ना चाहता तो सज्जन अपनी सज्जनता का त्याग क्यों करे ?"

अन्य यात्री यह सुनकर रानाडे के मुँह की ओर ताकते रहे ।

सामान बाहर निकाल कर फेंकने वाला वह अंग्रेज पूना में सहायक न्यायाधीश के पद पर कार्य कर रहा था और रानाडे उसके वरिष्ठ अधिकारी थे । यह जानकर वह अंग्रेज मन ही मन शर्मिंदा हुआ और रानाड़े से क्षमा माँगने लगा ।

卐卐卐 卐卐卐 卐卐卐

गाँधी जी नेटाल से स्वदेश लौटने को तैयार हुए तो सैकड़ों व्यक्तियों ने उनके बिदाई समारोह में भाग लिया । रजत और स्वर्ण के आभूषणों की कौन कहे उन्हें तो मूल्यवान घड़ियाँ तथा हीरे की अँगूठियाँ तक उपहार में मिली ।

गाँधी जी इस निर्णय पर नहीं पहुँच पा रहे थे कि प्राप्त उपहारों का क्या किया जाये ? वह ऐसे ही संकल्प-विकल्प में पड़े हुए थे । जो व्यक्ति दूसरों को त्याग वृत्ति का उपदेश दे, सादगी से रहने के लिए आग्रह करे वह फिर भला ऐसे मूल्यवान उपहारों को कैसे ग्रहण कर सकता था ।

उन्होंने कस्तूरबा तथा बच्चों को समझाया। बच्चे तो उनकी बात जल्दी समझ गए पर कस्तूरबा मानने को तैयार न हुईं। वह गाँधी जी के निर्णय का विरोध ही करती रहीं। अधिक कहा तो रो पड़ीं। उन्होंने रोते हुए कहा-"आपने हमारे तो सब आभूषण ले ही लिए हैं। यह उपहार यहाँ के निवासियों ने कितनी श्रद्धा के साथ दिए हैं। पर आप नहीं चाहते कि ये आभूषण मेरे पुत्रों की शादी में काम आयें और उनकी बहुएँ पहनें। फिर यह उपहार तो मुझे मिले हैं इन पर आपका क्या अधिकार है ?"

गाँधी जी ने निर्विकार भाव से समझाया-"बा ! क्या तुम इतना भी नहीं जानती कि यह सारे उपहार जनसेवा के बदले मिले हैं। अतः इनका उपयोग जनहित के लिए ही किया जाना चाहिए।"

सन् १८९६ तथा १९०१ में गाँधी जी को जो उपहार मिले उन्हें सार्वजनिक उपयोग के उद्देश्य से बैंक में जमा कर दिया। वह अपने को सदैव सार्वजनिक वस्तु का प्रहरी मानते थे।

卐卐卐 卐卐卐 卐卐卐

अमरीकी सेनापति ग्रांट जिस स्थान पर खड़े-खड़े सिगार पी रहे थे उस स्थान पर धूम्रपान वर्जित था। वहाँ जो नीग्रो चौकीदार ड्यूटी पर था उसने आकर कहा-"महोदय ! शायद आपको नहीं मालूम कि यहाँ धूम्रपान करने की मनाही है।"

"तो मैं क्या करूँ ?"

"आप यहाँ सिगार नहीं पी सकते।"

"अच्छा ! तो यह तुम्हारा आदेश है।" और सेनापति ने सिगार तत्काल फेंक दिया।

अविस्मरणीय संस्मरण

(१) स्वामी विवेकानंद मद्रास गए हुए थे । कानून शास्त्र के एक कालेज का अवलोकन करते हुए उनकी दृष्टि बरामदे की दीवार पर लगे श्रीकृष्ण के चित्र पर पड़ी । अचानक ही वे एक विद्यार्थी से पूछ बैठे-"कृष्ण भगवान् के चित्र में नीले आसमानी रंग का प्रयोग क्यों किया जाता है ?"

विद्यार्थी ने तुरंत उत्तर दिया-"जिस प्रकार नीले आकाश का विस्तार अनादि और अनंत है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण के गुणों की भी कोई सीमा नहीं । इसीलिए आसमानी रंग का उपयोग किया जाता है ।" इस गूढ़-रहस्यमय उत्तर को सुनकर स्वामी जी बहुत प्रसन्न हुए । वही विद्यार्थी बाद में चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य के नाम से सुविख्यात हुआ ।

(२) थियोसोफिकल सोसायटी की संस्थापिका मैडम ब्लैवट्स्की प्रथम श्रेणी का टिकिट लेकर हवाई जहाज पर चढ़ने की प्रतीक्षा में थीं । उन्हें होवर बंदगाह से न्यूयार्क जाना था ।

इतने में ही उन्हें एक स्त्री का रुदन स्वर सुनाई पड़ा । करुण हृदय ब्लैवट्स्की ने उक्त स्त्री से रोने का कारण पूछा । वह बोली-"बहन ! मेरे पति ने मुझे अमेरीका जाने के लिए पैसे भेजे थे । किन्तु किसी धूर्त अधिकारी ने पैसे लेकर बनावटी टिकिट दे दिए हैं और जहाज जाने की तैयारी में है ।"

उस धोखेबाज व्यक्ति को खोजने का समय न था । ब्लैवट्स्की ने अपना प्रथम श्रेणी का टिकिट वापस करके चार तृतीय श्रेणी के टिकिट क्रय किए और कहा-"चलो बहन ! जहाज छूटने ही वाला है ।"

(३) बालक को शाला पहुँचने में नित्य ही देर होती । यों वह नवीं कक्षा का विद्यार्थी था । पर कुछ लापरवाही, कुछ आलस्य और कुछ समय की अनियमितता । कभी कभी तो वह शीघ्रता में कोई पुस्तक अथवा कोई कापी ही भूल जाता ।

एक दिन उसके चाचा घर पर आये । माता-पिता ने समस्या उनके सामने रखी । उन्होंने अपनी कलाई से घड़ी उतारी और बालक की कलाई पर बाँधते हुए बोले-"यह है तुम्हारे रोग की दवा । याद रखो बेटा-यदि व्यक्तित्व को किसी महानता के साँचे में ढालना है, तो समय की नियमितता सबसे प्रमुख बात है ।"

बालक की दिनचर्या उसी दिन से नियमित होती गई । वह प्रतिभावान बालक था प्रसिद्ध इंजीनियर विश्वेश्वरैया ।

(४) जिन अपराधियों को आजीवन कारावास का दंड दिया जाता है, उन्हें क्षमा प्रार्थना का अंतिम अवसर दिया जाता है । ऐसे प्रार्थना पत्रों के साथ स्वभावत: ही किसी प्रतिष्ठित व्यक्ति की सिफारिश भी होती है ।

ऐसा ही एक प्रार्थना पत्र अमरीका के राष्ट्रपति के समक्ष आया । किन्तु उसके साथ कोई सिफारिशी पत्र नहीं था । राष्ट्रपति ने अपने निजी सचिव से पूछा-"क्या इस व्यक्ति का कोई मित्र नहीं ?" "मालूम तो ऐसा ही पड़ता है"-उत्तर मिला ।

राष्ट्रपति कुछ क्षण मौन रहे । फिर उस क्षमायाचना के पत्र को स्वीकार करते हुए उन्होंने लिखा-"जिसका कोई मित्र नहीं, उसका मैं मित्र बनता हूँ । अदना से अदना आदमी को भी न्याय मिलना चाहिए । यह मेरा कर्तव्य है ।" वे राष्ट्रपति थे-श्री अब्राहम लिंकन ।

(५) प्रसिद्ध समाज सेवक श्री अण्णा साहब सहस्त्रबुद्धे एक बार जापान गए । अपने मित्र के लिए उपहार स्वरूप वे कुछ आम ले गए थे ।

चुंगी वालों ने वहाँ पूछा-"ये क्या है ?" अण्णा साहब ने बताया-"यह हमारे देश का बहुत ही स्वादिष्ट तथा उत्कृष्ट फल है ।"

चुंगी अधिकारी ने उन फलों को अपने कब्जे में करते हुए कहा-"कृपया इन्हें न ले जायँ । इतने स्वादिष्ट फलों को खाने से जापानी लोगों में इनके प्रति अभिरुचि उत्पन्न होगी और वे इन्हें मँगाने लगेंगे । तब हमारे देश की इतनी अधिक मुद्रा विदेश चली जावेगी । यह अवांछनीय है ।"

सहस्त्रबुद्धे साहब इस उत्कृष्ट देश भक्ति को देखकर आश्चर्यचकित रह गए ।

(६) सुविख्यात इतिहासकार सर विसेंट स्मिथ इटावा जिले में एक दौरे पर गए । उस समय वे आगरा के कमिश्नर थे । जिलाधीश ने उनके सम्मान में भोज दिया जिसमें गौ मांस भी बनाया गया था ।

सर विसेंट को जब यह मालूम हुआ तो उन्होंने उसे भोजन में से हटाते हुए कहा-"इस देश की अधिकांश जनता अपनी धार्मिक भावना के कारण गाय को मातृ स्वरूप मानकर इसके मांस का सेवन नहीं करती । अत: मैं जब तक यहाँ हूँ-इसका सेवन नहीं करूँगा । देशवासियों की प्रत्येक भावना का आदर करना मेरा कर्तव्य है ।" इसे कहते हैं दृष्टिकोण की विशालता एवं विशदता ।

(७) महामना पं० मदनमोहन मालवीय जी एक विद्वान् से वार्तालाप कर रहे

थे । बातचीत के दौरान वे सज्जन कुछ आत्म प्रशंसा पर उतर आये ।

वे मालवीय जी से बोले-"आप मुझे सौ गालियाँ देकर देख लें, मुझे क्रोध नाम मात्र को भी न आयेगा ।"

मालवीय जी मंद मुस्कान के साथ बोले-"आपके क्रोध की परीक्षा करने से पूर्व ही मेरी वाणी गंदी हो जावेगी । अतः मैं ऐसा क्यों करूं ?"

सुनकर विद्वान् आत्म-श्लाघा करना भूल गए ।

(८) मेसेच्युसेट्स के सेनेटर चार्ल्स समर एक दिन प्रातःकाल ही अमरीका के राष्ट्रपति श्री अब्राहम लिंकन से मिलने जा पहुँचे ।

पहुँचने पर देखा कि लिंकन साब बैठे हुए बड़ी मस्ती से अपने जूतों पर पालिश कर रहे थे ।

मित्र ने कहा-"आप अपने जूतों पर स्वयं ही पालिश क्यों कर रहे हैं ? क्या कोई भृत्य नहीं ?"

अब्राहम लिंकन मुस्कराते हुए बोले-"अपने जूतों पर नहीं, तो क्या किसी और के जूतों पर पालिश करूँ ? अपना काम आप करने में सकोंच ही क्या ? छोटी-छोटी निजी सेवाओं के लिए दूसरों पर निर्भर रहना किसी भी प्रकार ठीक नहीं ।"

(९) बापू तब बालक ही थे । एक दिन स्कूल पहुँचने में देर हो गई । अध्यापक के कारण पूछने पर उन्होंने बताया-"बादलों की वजह से समय का कुछ अनुमान न लग सका और देर हो'गई ।"

किन्तु अध्यापक को विश्वास न हुआ और उन्होंने गाँधी जी पर एक आना फाइन कर दिया ।

बालक बापू गंभीर हो गए और उनके नेत्रों से झर-झर अश्रुधारा झरने लगी ।

अध्यापक ने कहा-"तुम तो अमीर बाप के बेटे हो । फिर भी एक आने के लिए रोते हो ।"

सिसकियों में से मोहनदास का स्वर फूटा-"एक आने के लिए नहीं बल्कि इसलिए रो रहा हूँ कि आपने मेरी बात का विश्वास नहीं किया !"

(१०) राजा राममोहन राय तब बालक ही थे । उन दिनों सती प्रथा पूरे जोर पर थी । उनके बड़े भाई की मृत्यु हो गई । प्रथा के अनुसार उनकी भाभी को सती होने पर बाध्य किया गया ।

धधकती ज्वालाओं में जिंदा शरीर को झोंक दिया गया । वेदना से छटपटा कर वह चिता से बाहर दौड़ी । पर क्रूर प्रथा पालकों ने उसे बाँसों से ढकेल कर फिर चिता में डाल दिया ।

जीवन का यह करुण और वीभत्स अंत उनसे देखा न गया । हृदय चीत्कारें सुनकर विगलित हो गया । मस्तिष्क में एक विरोध की भावना उठी उस अमानवीय प्रथा के प्रति । उन्होंने संकल्प लिया-"जब तक इस पिशाचिनी प्रथा का अंत न कर दूँगा, चैन से न बैठूँगा ।" और उन्होंने वह कर दिखाया ।

(११) यूनान के प्रसिद्ध मनीषी अरस्तू से एक दिन किसी व्यक्ति ने कहा कि अमुक व्यक्ति आपकी अनुपस्थिति में आपको गाली दे रहा था ।

"अच्छा ! फिर तो वह मूर्ख मेरी अनुपस्थिति में मुझे कभी भी पीट सकता है ।"-हँसते हुए अरस्तू ने कहा ।

सफलता उन्हें मिली जिन्होंने प्रयत्न किया

(१) एक दुबला-पतला बालक लकड़ियाँ काट रहा था । परिश्रम और पसीने से उसकी देह लतपथ थी, किन्तु वह बड़ी तल्लीनता से अपने काम में जुटा रहा । फिर उठा, खाना पकाया । घर की झाड़ू लगाने से लेकर पानी ढोने तक का काम उसने अपने हाथों से किया था । फिर उसे दिन ढलते ही नींद आना स्वाभाविक था ।

किन्तु जीवन में सफलता की इच्छा रखने वाले व्यक्ति आराम नहीं श्रम से, आलस्य नहीं उद्योग से प्रेम करते हैं । इस बच्चे ने भी यह निश्चय कर लिया था कि उसे बड़ा आदमी बनना है । इसलिए अभी वह चारपाई पर नहीं गया । उसने अँगीठी जलाई और पढ़ने बैठ गया ।

एक दिन ब्लैक स्टोन की एक पुस्तक पढ़ने की इच्छा हुई । वह प्रत्येक बड़े लेखक के आदर्शों को अपनाता था । इसलिए गुण-संचय की उसे धुन हो गई थी । पर वह पुस्तक मिलती कैसे ? वहाँ से चार मील दूर एक लाइब्रेरी में पुस्तक मिल सकती थी । "चार मील कौन जाये" वाली थका देने वाली कुत्सा बच्चे के जीवन में न थी । वह तो तुरंत चल पड़ा । लौटते समय रास्ते में ही पुस्तक पढ़ डाली । दुबारा घर में पढ़कर लौटा दी ।

सतत् कर्मरत रहने वाला यह छोटा-सा बच्चा आप न जानते होंगे, एक दिन अमेरिका का राष्ट्रपति बना और अब्राहम लिंकन के नाम से विख्यात हुआ ।

(२) आफिस से घर पहुँचकर देखा कि वहाँ बच्चों ने कागज बिखेर रखे हैं । बच्चों के खेलने-कूदने में वस्तुएँ अस्त-व्यस्त हो ही जाती हैं । पर इसका तात्पर्य यह नहीं कि उसे साफ न किया जाये । साफ करे कौन, नौकर ? नहीं कोई भी काम बँटा नहीं है । काम करने से कोई छोटा नहीं हो जाता । परिश्रम करने से थकावट नहीं, ताजगी आती है । इसलिए उस महापुरुष ने बुहारी उठाई और घर को साफ करके रख दिया । थोड़ी देर में भीतर से ललिता शास्त्री आईं तो पति के हाथों झाड़ देखकर अवाक् रह गईं-ये अब प्रधानमंत्री हो गए हैं पर शारीरिक श्रम से अभी भी इन्हें इतना प्रेम है । मन ही मन उन्होंने कहा-जिस व्यक्ति में काम करने का इतना अदम्य उत्साह हो वह कभी छोटी स्थिति में नहीं रह सकता । समझ ही गए होंगे-वह अपने प्रिय प्रधानमंत्री लालबहादुर शास्त्री थे ।

(३) संसार में ऐसे मनुष्यों का अभाव नहीं जो विपुल धन, यश, सुख और ऐश्वर्य प्राप्ति की कमाना किया करते हैं । ऐसी महत्वाकांक्षायें बुरी नहीं होती यदि मनुष्य मूल्य चुकाने को तैयार हो । परिश्रम की कीमत चुकाये बिना विद्वान्, लेखक, पदाधिकारी या सम्पत्तिशाली नहीं बना जा सकता । ऐसी इच्छायें न कोई अर्थ रखती हैं, न महत्व । जन्मती और बिना जल के सरोवर के कुमुद की तरह सूखती रहती हैं । पर जो परिणाम की परवाह किये बिना ध्येय प्राप्ति में जुट जाते हैं उन्हें सफलता अनायास ही मिल जाती है ।

सारे देश में प्रचलित भाषाओं के शब्द कोष तैयार करने और समानार्थक शब्दों को वर्ग बद्ध करके संस्कृत भाषा को परिष्कृत और विशाल स्वरूप प्रदान करने की इच्छा की एक व्यक्ति ने । पर क्या यह कोई गाल फुलाकर पिचका देने वाला खेल था । उसने दुनियाँ के तमाम आकर्षणों और सुखों का परित्याग किया । मन की सम्पूर्ण शक्तियाँ एकाग्रचित्त कीं और फिर अविचलित मन से जुट गया उस कार्य में । अखंड अध्ययन और चिंतन के बाद उसने संस्कृत भाषा का सर्वांगपूर्ण व्याकरण रचकर तैयार कर दिया । संस्कृत सदा-सर्वदा के लिए अक्षुण्ण हो गई । शब्दों का इतना विपुल भंडार हम समझते हैं अंग्रेजी में भी शायद ही हो । उस महान् अध्यवसायी पंडित को क्या हम भुला सकते हैं, जिसने अष्टाध्यायी लिखने में इतना परिश्रम किया । नहीं, पाणिनि अपने कर्तव्य पूर्ति के साथ ही अमर हो गए ।

(४) साधन न हों तो भी परिश्रमशील के लिए सफलता के द्वार बंद नहीं होते। माता टेरिसा ने दुखियों की सेवा के लिए कलकत्ता में अस्पताल खोला पर क्या एक अस्पताल से दुनियाँ की सेवा हो सकती थी ? दुनियाँ की सेवा के लिए धन की आवश्यकता होती है पर उन्होंने कहा-"धन नहीं परिश्रम से यह सब काम हो जायेगा।"

और जब वे जुट गईं तो आसनसोल, दिल्ली, राँची, झाँसी, अमरावती, बंबई आदि स्थानों तक जा पहुँची। सैकड़ों सेवा केन्द्रों, पाठशालाओं, अस्पतालों, शिशु विकास केन्द्रों आदि की स्थापना कर डाली। उसके लिए उन्हें १८ हजार डालर का विश्व-बंधु पुरस्कार प्रदान किया गया।

(५) समर्थ गुरु रामदास ने तो पैसे को हाथ भी नहीं लगाया। वे तो बस परिश्रम से अपने कार्य में जुटे रहे। एक गाँव में पहुँचते, युवकों को इकट्ठा करते और उन्हें समझाते कि स्वास्थ्य ठीक रखकर ही तुम लोग देश सेवा कर सकते हो। अस्वस्थ व्यक्ति तो स्वयं अभिशाप है। इस तरह वे एक व्यायामशाला स्थापित करते। पर फिर क्या वहाँ बैठकर अपनी छोटी सी सफलता पर इतराने लग जाते ? नहीं, वहाँ से दूसरे, दूसरे से तीसरे गाँव चलते चले गए। ६००० व्यायामशालायें उस व्यक्ति ने खुलवा दीं, जिसके पास ६ नये पैसे भी न थे। यह सब परिश्रम और लगन से संभव हुआ। कुश्ती कला में आज महाराष्ट्र सिरमौर है। क्या उसका श्रेय गुरु रामदास को न देकर किसी और को दिया जा सकता है।

(६) 'हाउ टु बी पर्सनली एफिशियेंट' के यह वाक्य जीवन सफलता की कुंजी ही माने जा सकते हैं-'व्यवसाय रूपी सोने की खान के ऊपर सफलता की स्वर्ण राशि बिखरी नहीं पड़ी, परिश्रम करो, दमतोड़ पसीना चुआने वाला परिश्रम। जीवन में महानतम पुरस्कार परिश्रम के ही फल होते हैं।'

'सुअवसर ऊपरी मिट्टी है और सफलता उसके भीतर दबी हुई सोने की खान। उसे पाने के लिए गहरी खुदाई करने के अतिरिक्त कोई उपाय नहीं। पता लगाओ सोना कहाँ है ? फिर योजना बनाओ, कमर कसो, आस्तीन चढ़ाओ और खोदना शुरू कर दो-सफलता का यही मंत्र शाश्वत और सनातन है।'

(७) एक अधेड़ व्यक्ति अपने कई बच्चे लिए एक कोठरी में पड़ा है। एक बच्चे का निधन हो गया है पर इतना स्थान घर में नहीं कि शव को अलग लिटाया जा सके। रात उसी के साथ सोकर काटी। सबेरा हुआ तब बच्चे को दफनाया जा सका।

अब वह फिर अध्ययन में लग गया । विश्व की परिस्थितियों, मनीषियों के विचारों आदि को तल्लीनतापूर्वक पढ़ने के बाद २६ वर्ष के अथक परिश्रम के फलस्वरूप उसने जो पुस्तक लिखी उसे जानने वाला तो संभवतः सारा विश्व हो, पर संसार की लगभग आधी आबादी तो विधिवत् उन सिद्धांतों पर चलने लगी । वह महान् पुरुषार्थी और कोई नहीं 'कार्लमार्क्स' थे और उनकी पुस्तक 'केपिटल' के नाम से प्रख्यात हुई जिसने साम्यवाद के समर्थन में सारे विश्व में तहलका मचा दिया ।

(८) कीटो का पिता उसे स्कूल नहीं जाने देता था । उसका ऐसा विश्वास था कि अगर कीटो स्कूल गया तो भूखों मर जायेगा । कीटो ने कहा-''पिताजी ! आप खाने की चिंता न कीजिए । भगवान् ने बहुत से बेर-मकोय पैदा किये हैं । उन्हें खाकर जिंदा रहा जा सकता है ।'' और उसके बाद वह पढ़ने में जुट गया । पढ़ता भी था और आजीविका भी कमाता था । कीटो एक मशीन की तरह निरंतर क्रियाशील रहता था । उसकी तपश्चया फलीभूत हुई और वह बाइबिल का प्रकांड पंडित हुआ ।

महापुरुषों के जीवन की ये थोड़ी घटनायें यह बताती हैं कि सफलतायें जन्म-जात नहीं हुआ करतीं वरन् वे पुरुषार्थ, पराक्रम और परिश्रम के द्वारा जागृत की जाती हैं । आलसी मनुष्य परिश्रम से घबराते हैं । इसलिए वे न तो स्वयं आप कुछ कर पाते हैं और न ही दूसरों को करने देते हैं । किन्तु जिन्हें आगे बढ़कर कुछ प्राप्त करने का शौक होता है वे परिश्रम से जी नहीं चुराते । सफलता की प्राप्ति के लिए पुरुषार्थ ही मूल मंत्र है ।

संस्मरण जो कभी भुलाए न जा सकेंगे

भारत के प्रथम राष्ट्रपति स्व० श्री राजेन्द्र प्रसाद ने प्रेसीडेंसी कालेज में प्रवेश लिया। सादगी उनके व्यक्तित्व की अपनी एक महती विशेषता थी।

जब पहले दिन वे कक्षा में गए तो अचकन, पाजामा और टोपी पहने हुए थे। शेष सब लड़के कोट-पतलून तथा टाई में थे।

वे सब लड़कों को देखकर समझे कि इनमें अधिकांश एंग्लो इंडियन होंगे और उन्हें देखकर सब लड़कों ने ऐसा भाव व्यक्त किया जैसे पूछ रहे हों-'कहाँ से रस्सा तुड़ाकर भाग आए हो।' बहुत मजाक बनाया सबने उनका।

जब कक्षा में प्राध्यापक आए और सबका नाम व परिचय सबको मिला तो दोनों ही आश्चर्य में थे।

राजेन्द्र बाबू इसलिए कि मालूम पड़ा कि सभी विद्यार्थी भारतीय ही थे। और शेष विद्यार्थी इसलिए कि राजेन्द्र बाबू ने, जिन्हें वे निरा गँवार ही समझ रहे थे, विश्वविद्यालय में सर्वप्रथम स्थान प्राप्त किया था।

विद्यार्थी अब आश्चर्यचकित थे उनकी सादगी तथा भारतीय वेशभूषा में छिपी ज्ञान गरिमा पर।

और राजेन्द्र बाबू दयार्द्र हो उठे थे उन विद्यार्थियों की पाश्चात्य सभ्यता की नकल करने में गौरव की अनुभूति करने वाली प्रवृत्ति पर।

卐卐卐 卐卐卐 卐卐卐 卐卐卐

जिस समय नेपोलियन बोनापार्ट का जन्म हुआ, उसकी मातृभूमि कोर्सिका फ्रांस के अधिकार में आ चुकी थी। फ्रांसीसियों के क्रूर अत्याचारों से कोर्सिका की जनता त्राहि-त्राहि कर उठी थी।

इस युद्ध में उसके पिता ने शत्रु से लड़ते-लड़ते वीरगति पाई थी। उसके पश्चात् उसकी माँ ने युद्ध में भाग लिया। वह भी वीरता के साथ लड़ीं। युद्ध में भाग लेना मात्र उतने आश्चर्य की बात नहीं है, जितनी यह बात कि उस समय नेपोलियन उसके गर्भ में था।

और जब वह मात्र पाँच वर्ष का था तब उसकी माँ ने उसे वह कहानी सुनाई जिसमें फ्रांसीसियों के अत्याचार, उत्पीड़न तथा बर्बरता की गाथा थी।

बालक, जो गर्भ से ही वीरता के रस का पोषण पा रहा था, सब कुछ सुनकर

उत्तेजित हो उठा, उसका शरीर आक्रोश से काँपने लगा । और तभी उसने अपनी माँ से कहा-"माँ ! मैं सारे फ्रांस को अपने पैरों तले कुचल डालूँगा । अपनी मातृभूमि के उत्पीड़न तथा अपमान का बदला लूँगा ।"

और अपने युवा जीवन में ही उसने अपने कहे इन शब्दों की सार्थकता प्रकट कर दिखाई । किशोर अवस्था में ही वह एक सैनिक शिक्षण शाला में प्रविष्ट हुआ । लगन तथा परिश्रम के बल पर उसे शीघ्र ही एक टुकड़ी का नायक बना दिया गया । और फिर तो सफलता की सीढ़ियाँ तेजी से पार करता हुआ वह फ्रांस का सर्वे-सर्वा और अंत में विश्व विजेता बन गया ।

ऐसी होती है सच्ची लगन तथा ध्येय के प्रति निष्ठा, जो मनुष्य को धरातल से उठाकर आकाश की ऊँचाइयों तक पहुँचा देती है ।

卐卐卐 卐卐卐 卐卐卐 卐卐卐

श्री बल्लभ भाई पटेल के माता-पिता धनवान न थे । अत: उच्च शिक्षा की व्यवस्था वे न कर सके । किन्तु बल्लभ भाई की प्रबल आकांक्षा बैरिस्टर बनने की थी ।

अब बल्लभ भाई ने सोचा स्वयं ही अपने लिए पहाड़ काटकर राह बनानी चाहिए । अत: मुख्तारी की परीक्षा पास की और बोरसद जाकर प्रैक्टिस करने लगे । बड़े परिश्रम तथा मितव्ययता के फलस्वरूप उन्होंने कुछ रुपया बहुत दिनों में एकत्रित कर पाया । तब उन्होंने विलायत जाने के लिए पासपोर्ट प्राप्त करने का प्रयत्न किया । बड़ी कोशिशों के बाद उन्हें वह मिला । किन्तु वह पड़ा उनके बड़े भाई श्री विट्ठल भाई के हाथ । उनका मन ललचा आया । बड़े भाई बी० जे० पटेल थे । अत: बड़े भाई ने कहा-"मैं बड़ा हूँ । पहले मुझे बैरिस्ट्री पास कर आने दो । तुम बाद में जाना ।"

इतने वर्षों का श्रम, साधना, प्रयत्न तथा प्रतीक्षा सब निरर्थक गया । किन्तु बल्लभ भाई वास्तव में ही आदर्श व्यक्तित्व के धनी थे । उन्होंने सहर्ष वह पासपोर्ट अपने बड़े भाई को दे दिया और स्वयं, तीन वर्ष पश्चात् जब वे लौट आए, तब गए ।

卐卐卐 卐卐卐 卐卐卐 卐卐卐

ग्यारह वर्षीय बालक ने कहा-"पिताजी मुझे पाँच रुपये दे दीजिए ।" पिता ने पूछा-"काहे के लिए चाहिए" तो उत्तर मिला-"बस आप तो दे ही दीजिए ।"

पिता ने रुपये तो दे दिए किन्तु पीछे से नौकर को भेजा कि देखकर आओ यह रुपयों का क्या करता है ।

बालक गया और अपने एक अत्यन्त निर्धन साथी को पाठ्य पुस्तकें खरीद कर दे दीं ।

यह बालक और कोई नहीं, हमारे प्रसिद्ध नेता श्री देशबंधु चित्तरंजनदास थे । नौकर से पूरी बात मालूम होने पर पिता ने उन्हें बहुत प्यार किया ।

आगे चलकर उनकी यह प्रवृत्ति और भी विकसित हुई । अपनी आय में से कई विद्यार्थियों की सहायता करते, कई विधवाओं तथा अनाथ बच्चों को नियमित रूप से आर्थिक सहयोग देते रहे । उनका यह क्रम जीवन के अंत तक नहीं टूटा ।

卐卐卐 卐卐卐 卐卐卐 卐卐卐

अमेरिका के राष्ट्रपति श्री अब्राहम लिंकन बड़े ही दयालु तथा उदार स्वभाव के थे । एक दिन वे न्यूयार्क में अपने कुछ मित्रों के साथ सड़क पर जा रहे थे । समय रात्रि का था तथा मौसम सर्दी का ।

मार्ग में उन्होंने देखा कि एक कुत्ते का पिल्ला ठंड के मारे सिकुड़ा जा रहा है तथा 'कूँ-कूँ' कर रहा है । वे आगे बढ़े और उसे उठा लिया । बड़े प्यार से अपने कोट के नीचे छिपा लिया ।

साथियों ने उनसे कहा-"आप इस गंदे पिल्ले को कोट में रखे हैं । आपका सूट गंदा हो जायगा ।"

तब लिंकन महोदय ने कहा-"कोट गंदा होने का मुझे उतना दु:ख नहीं होगा, जितना यह सोचकर होगा कि एक सर्दी से ठिठुरते प्राणी की रक्षा मैंने नहीं की, जबकि मैं कर सकता था ।"

卐卐卐 卐卐卐 卐卐卐 卐卐卐

बाल गंगाधर तिलक तब बालक ही थे । कक्षा में सुलेख लिखाया गया । सब छात्रों की कापियों से तिलक की कापी में एक विलक्षण बात थी ।

लेख में 'सन्त' शब्द तीन बार आया था । तिलक ने तीनों बार तीन प्रकार से यह शब्द लिखा था । 'संत, सन्त तथा सन्‌त' । शिक्षक ने प्रथम को सही माना और शेष दो को गलत मानकर काट दिया ।

तिलक के स्वभाव में दबंगपन प्रारंभ से ही था । गलत बात को वे कभी भी स्वीकार न करते थे । यही गुण उनमें आगे चलकर स्वतंत्रता आंदोलन के समय दिलेरी तथा अदम्य साहस के रूप में विकसित हुआ और गर्जना के साथ

उन्होंने उद्घोष किया-'स्वतंत्रता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है ।'

उस दिन भी उन्होंने कहा-"मेरे शेष दो शब्द भी ठीक हैं । आप इन्हें सही कीजिए ।" अध्यापक ने कहा-"नहीं हैं ठीक ।"

किन्तु वे नहीं माने और छुट्टी होने के पश्चात् भी अध्यापक के पीछे ही पड़े रहे । पिंड तब छोड़ा जब उससे दोनों स्थान के काटे गए शब्द सही करवा लिये । सत्य बात मनवाने के प्रति ऐसी दृढ़ता चरित्र की अपनी एक प्रशंसनीय विशेषता है ।

卐卐卐 卐卐卐 卐卐卐 卐卐卐

पुत्र का विवाह परंपरा के अनुसार दस-ग्यारह वर्ष की आयु में कर दिया गया । कन्या सात वर्ष की थी । माता की देखरेख में ही लड़की का चुनाव किया गया था । किन्तु कुछ दिन पश्चात् माता को अनुभव हुआ कि मैंने कन्या का चुनाव ठीक नहीं किया है । अत: उसने विचार किया कि दूसरी उत्तम गुणों वाली कन्या खोजकर दूसरा विवाह कर देना चाहिए पुत्र का ।

पर तब तक पुत्र कुछ समझदार हो चला था । माता ने अपना मंतव्य प्रकट किया । पुत्र ने कहा-"दूसरा विवाह नहीं हो सकेगा माँ !" माँ नाराज हुईं, कहने लगीं-"यह मेरे निर्णय का विषय है, तुम्हारा नहीं । तुम अभी बच्चे हो । इसमें मेरे मान-अपमान का प्रश्न है । मैं कन्या पक्ष वालों को आश्वस्त कर चुकी हूँ । क्या तुम्हें इसीलिए पाल-पोसकर बड़ा किया था कि तुम्हारे कारण यों लज्जित होना पड़े ?"

पुत्र ने समझाया-"आपका मान मुझे प्राणों से भी प्यारा है । उस पर अपने जीवन की आहुति भी दे सकता हूँ । परंतु दूसरा विवाह करने से पत्नी का जीवन नष्ट हो जावेगा ।"

माता फिर भी न मानी । तब पुत्र ने कहा-"अच्छा एक बात बताइये । यदि मैं ही अयोग्य होता तो क्या आप उस कन्या को दूसरा विवाह करने की अनुमति देतीं ?"

इन प्रश्न का माँ के पास कोई उत्तर न था । उन्होंने बेटे के ब्याह की बात बंद कर दी । वह साहसी बालक थे-दादा भाई नौरोजी ! कांग्रेस के प्राणदाता, भारत के सच्चे समाज-सेवक ।

卐卐卐 卐卐卐 卐卐卐 卐卐卐

स्वामी रामतीर्थ बड़े ही कुशाग्र बुद्धि तथा अध्ययनशील विद्यार्थी थे । यहाँ तक कि रास्ते में चलते-चलते भी पुस्तक पढ़ने की आदत थी उन्हें । लोग उनकी

इस बात पर कभी हँसी उड़ाया करते थे और कभी प्रशंसा भी करते थे ।

एक दिन वे इसी प्रकार सड़क पर पुस्तक पढ़ते हुए चले जा रहे थे । एक व्यक्ति ने टोक ही दिया-"भाई साहब ! यह पाठशाला नहीं है, रास्ता चलते तो कम से कम पुस्तकें ठीक ठिकाने रख दिया करें ।"

स्वामी जी मुस्कराये और बोले-"यह सारा संसार ही मेरी पाठशाला है ।"

卐卐卐 卐卐卐 卐卐卐 卐卐卐

श्री गोखले जी कर्मठ समाज-सेवक तथा निष्ठावान सुधारक तो थे ही, उनका हृदय भी अगाध करुणा, दया तथा प्राणीमात्र के प्रति ममता से भरा हुआ था । एक बार वे किराये की घोड़ा-गाड़ी करके अपने एक मित्र के यहाँ जा रहे थे ।

ताँगे की चपेट में एक कुत्ता आ गया । गोखले जी तत्काल गाड़ी रुकवाकर उतरे, उसे उठाया और ताँगे वाले से कहा-"शीघ्र पशु चिकित्सालय चलो ।"

और फिर नित्य ही उस पिल्ले को देखने अस्पताल उसी प्रकार जाते जैसे वह कोई कुटुम्बी हो । आवश्यक व्यय भार भी उन्होंने ही उठाया और ठीक होने पर उसे घर पर ले आये ।

卐卐卐 卐卐卐 卐卐卐 卐卐卐

संस्कृत के प्रसिद्ध कवि माघ अपनी उदारता तथा दान-शीलता के लिए बड़े प्रसिद्ध थे । कोई भी याचक उनके यहाँ से निराश नहीं लौटा था कभी । लेकिन कुछ दिन से उनकी आर्थिक स्थिति बड़ी खराब चल रही थी । पर दिल तो पहले जैसा ही था । तभी एक रात, जब वे लिखने में तल्लीन थे, एक याचक उनके यहाँ आया । उसने बताया कि मुझे अपनी कन्या का विवाह करना है और पास में कुछ भी नहीं है । आपकी ख्याति सुनकर आपके पास आया हूँ । कुछ सहायता मिल जाये तो मेरा काम बन जाये ।

कवि माघ का हृदय भर आया । वे सोचने लगे-"काश ! आज मेरे पास प्रचुर मात्रा में धन होता तो अतिथि की सारी चिंता मिटा देता । पर चलो सारी न सही, आंशिक ही सही ।" घर की शेष सम्पत्ति पर दृष्टि डाली । पास में सौ रुपये भी नहीं थे । तभी पास ही सो रही पत्नी के शरीर पर दृष्टि गई । धीरे से एक कंगन उतारा और अतिथि को देते हुए बोले-"इस समय अधिक के लिए मैं विवश हूँ । जो कुछ पास में है उसे ही स्वीकार कीजिए ।"

तभी पत्नी की आँख खुली । वस्तुस्थिति को समझा । मंद मुस्कराहट के साथ बोली-"भला विवाह जैसा कार्य एक कंगन में कैसे हो सकेगा । यह दूसरा

भी ले जाइये ।" और दूसरा कंगन भी उतार कर दे दिया । माघ पत्नी के इस कृत्य पर पुलकित हो उठे ।

卐卐卐 卐卐卐 卐卐卐 卐卐卐

देशमान्य गोपालकृष्ण गोखले बचपन में बहुत गरीब थे । प्रारंभिक शिक्षा जैसे-तैसे पूर्ण हुई । अब कालेज की ऊँची व खर्चीली पढ़ाई का प्रश्न सामने आया । चारों ओर निराशा के बादल ही दिखाई दे रहे थे ।

तभी साहस दिलाया उनके बड़े भाई श्री गोविंद राव ने । भाभी की उदारता भाई से भी बढ़ी-चढ़ी निकली । उन्होंने अपने कुछ आभूषण बेचे और कालेज की प्रारंभिक फीस भर दी ।

गोविंद राव को कुल पंद्रह रुपये मासिक वेतन मिलता था । लेकिन भाई के प्रति ममता इतनी अधिक थी कि वे कहते थे कि चाहे मुझे मजदूरी करना पड़े, पर अपने भाई को उच्च शिक्षा अवश्य दिलवाऊँगा ।

और पंद्रह में से केवल आठ रुपये वे अपने लिए रखते थे । शेष सात गोखले जी को भेज देते थे ।

जब गोखले जी की शिक्षा पूर्ण हो गई तब उन्हें पैंतीस रुपये प्रति मास की नौकरी मिली । बड़े भाई के उपकार से उनका रोम-रोम कृतज्ञता से सराबोर था । सो वे भी अपने लिए मात्र ग्यारह रुपये खर्च के लिए रखकर शेष चौबीस रुपये प्रति मास बड़े भाई को भेज देते थे । बड़े भाई बहुत कहते कि तुम अच्छी तरह आराम से रहा करो, मुझे मत भेजा करो । किन्तु यह रुपयों का बदला रुपयों में नहीं था, बल्कि ममता की प्रतिक्रिया श्रद्धा के रूप में थी ।

卐卐卐 卐卐卐 卐卐卐 卐卐卐

स्वामी विवेकानंद तब इंग्लैंड में थे, एक दिन वे अपने कुछ साथियों सहित देहातों का दौरा कर रहे थे । तभी सामने से एक बलिष्ठ साँड़ दौड़ता हुआ आया । सभी लोग डरकर इधर-उधर भागने लगे । इस भगदड़ में एक बालिका नीचे गिर गई । साँड़ उसी की ओर भागता आ रहा था ।

स्वामी जी आगे बढ़े और सीना तानकर साँड़ के सामने खड़े हो गए । वह इनके निकट आया, रुका और कुछ सैकिंड बाद मुड़कर धीरे-धीरे चला गया ।

स्वामी जी के इस साहस को सभी ने निहारा । पर उनका यह अदम्य साहस उग्र आत्म-बल की ही प्रतिच्छाया था ।

आत्म विश्वास की अजेय शक्ति

इतिहास का घंटा था । विद्यार्थी इतिहास की पुस्तक खोले हुए थे, एक विद्यार्थी खड़ा होकर पढ़ रहा था, बीच में मास्टर जी समीक्षा भी करते जा रहे थे । पढ़ते-पढ़ते बालक एकाएक रुक गया । मास्टर साहब ने कहा-"पढ़ो ! पढ़ो !! रुक क्यों गये ?" छात्र ने एक दृष्टि श्रीमान अध्यापक जी पर डाली और तपाक से जिस पन्ने को पढ़ रहा था, फाड़ डाला ।

अध्यापक क्षुब्ध हो उठा । उसने छात्र की पिटाई की और पूछा तुमने इसे क्यों फाड़ डाला ? इस पर युवक छात्र ने उत्तर दिया-"अंग्रेजों ने अपनी मर्जी का इतिहास लिखा है, यह गलत है, सच्चा इतिहास तो मैं लिखूँगा ।"

बुंदेलखंड के एक खूँख्वार डकैत का दोस्त एक सज्जन के पास जाकर बोला-"दाऊजी (डकैत शेरसिंह) ने कहा है कि आपने इधर-उधर नहीं किया तब तक मेरे मित्र हैं किन्तु यदि कोई गलत काम किया (पुलिस को सूचना आदि दी) तो फिर मेरी दुश्मनी आपको मँहगी पड़ेगी ।"

जहाँ का बच्चा-बच्चा डकैतों के नाम से काँपता हो और कोई उनका खुलकर विरोध करने को तैयार नहीं होता हो वहाँ उक्त सज्जन ने आगंतुक से उसी लहजे में कहा-"आप अपने दाऊजी से कहना कि यदि वे इस क्षेत्र में आये तो मेरी दुश्मनी उन्हें और भी मँहगी पड़ेगी ।"

आगंतुक इस सज्जन की इस हिम्मत और स्पष्टवादिता से बहुत प्रभावित हुआ, उसने जाकर डकैत से बात ज्यों की त्यों दुहरा दी । सब ओर डकैतियाँ पड़ीं पर श्यामसी क्षेत्र पर आँच नहीं आई ।

श्यामसी क्षेत्र का यह बुंदेला सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यासकार बाबू वृंदावन लाल वर्मा थे जो प्रकृति से संत होने के साथ-साथ सुदृढ़ योद्धा भी थे । अन्याय और अनीति के आगे झुकना उन्होंने सीखा ही नहीं था भले ही उनके पिताजी ही क्यों न रहे हों । वे अपने इन गुणों के कारण कहीं अधिक आदरणीय भले ही हों यश उन्हें साहित्यिक सेवाओं के कारण ही मिला । उनका जीवन-दर्शन यह बताता है कि व्यक्ति को हृदय से भावनाशील तो होना चाहिए पर सिधाई व सच्चाई सार्थक उसी की होती है जो इतना साहसी और शक्तिशाली भी हो कि सच्चाई की रक्षा कर सके ।

डॉ० वृंदावन लाल वर्मा, जो साहित्यकार के साथ साथ वकील और समाज सेवी संत भी थे, का जन्म झाँसी जिले के ग्राम मऊरानीपुर में हुआ था । श्री वर्मा बाल्यावस्था से ही धार्मिक प्रकृति के थे । जिन दिनों वे विद्यार्थी थे प्रतिदिन सुंदरकांड का पाठ किया करते । एक बार किसी मित्र ने कहा-"अजी रामायण पढ़ने से और परीक्षा में पास होने से क्या संबंध ?" श्री वर्मा ने उत्तर दिया-"किसी के लिए हो या न हो इस पाठ से मेरे विचार, मेरी बौद्धिक प्रतिभा का विकास होता है और विश्वास होता है कि मैं अवश्य ही उत्तीर्ण होऊँगा । यह आत्मविश्वास जिस अंतःकरण में उत्पन्न होता है, वहीं सफलता की परिस्थितियाँ चमत्कार की तरह पैदा हो जाती हैं । श्री वर्मा इसके उदाहरण थे । वे सदैव प्रथम श्रेणी में ही परीक्षायें उत्तीर्ण करते रहे ।

卐卐卐 卐卐卐 卐卐卐 卐卐卐

डॉ० राममनोहर लोहिया बर्लिन विश्वविद्यालय में भर्ती होने के लिए गए । उस समय एक मनोरंजक किन्तु प्रेरणादायक घटना घटी जिसने लोहिया जी के मन में देशभक्ति की आस्था को और भी सींचा । लोहिया ने अर्थशास्त्र विषय चुना और प्रसिद्ध अर्थशास्त्री प्रो० बर्नर जोम्बार्ट के पास पढ़ने के लिए गए । पर मुश्किल यह थी कि लोहिया जर्मनी नहीं जानते थे और जोम्बार्ट केवल जर्मनी में ही पढ़ाते थे । जब जोम्बार्ट ने यह बताया कि मैं अंग्रेजी नहीं जानता तो लोहिया ने तीन महीने का समय माँगा और इतने समय में ही भलीभाँति जर्मन भाषा का ज्ञान प्राप्त कर लिया । तीन महीने बाद वे प्रोफेसर के पास पहुँचे और उनसे धारा प्रवाह जर्मन में बातचीत शुरू कर दी तो वे आश्चर्यचकित रह गए । उन्होंने अपने शिष्य को गले लगाते हुए कहा-"राममनोहर ! तुमने सचमुच सिद्ध कर दिया कि निष्ठा, संकल्प और आत्मविश्वास की शक्ति के आगे कुछ भी असंभव नहीं ।"

परहित से बड़ा कोई धर्म नहीं

१९४२ का समय था । चारों ओर सत्याग्रह आंदोलन की धूम मची थी । विदेशी कपड़ों की होली जलायी जा रही थी । एक ऐसा ही आंदोलन महात्मा गाँधी ने इन दिनों चलाया था । कलकत्ता में उस दिन चौरंगी के चौराहे पर सभी व्यापारियों से विदेशी वस्त्र एकत्र कर जलाने के लिए आह्वान किया गया था । मोतीलाल नेहरू के पास एक व्यापारी दौड़ा-दौड़ा आया, बोला-"बैरिस्टर साहब ! केवल दो दिन के लिए इस आंदोलन को रुकवा दें, नहीं तो मैं लुट जाऊँगा । मेरा १० करोड़ का माल कल ही जहाज से आया है ।"

मोतीलाल नेहरू बोले-"भाई, तुम्हारा तो मात्र धन ही जायेगा, मैंने तो गाँधीजी के कदमों पर चलकर अपना सर्वस्व लगा दिया है । मेरी लाखों की जायदाद सरकार के पास है । कितने मन से इकलौते लड़के के लिए आनंद भवन बनवाया था, वह जेल में पड़ा है । अब तुम्हीं बताओ मैं कैसे रुकवा दूँ, इस होली को ।" व्यापारी नत मस्तक होकर बोला-"महाराज ! तब तो आप जल जाने दें मेरे सारे माल को । आपके समक्ष मेरी यह हानि बहुत ही तुच्छ है ।"

ऐसे एक नहीं अनगिनत व्यक्ति हो गए हैं जिनके नाम कभी जन-साधारण के समक्ष आए नहीं, लोकेषणा से परे रहते हुए उन्होंने कभी अपने त्याग को भुनाया भी नहीं ।

प्रसिद्ध साहित्यकार व 'मराठा' दैनिक के सम्पादक आचार्य प्रह्लाद केशव अत्रे ने पचास लाख रुपयों की अपनी सारी सम्पत्ति भारत की जनता के नाम वसीयत में लिख दिया । परिवार वालों को अपनी इस सम्पदा में से मात्र उतना ही लेने का प्रावधान रखा जितना कि विवेक सम्मत था । उनका यह मत था कि जो स्वयं हाथ से कमाने योग्य है उसका इस सम्पत्ति पर अपना कोई अधिकार नहीं है । अपनी सम्पदा का ट्रस्ट बनाकर विश्वस्त ट्रस्टी नियुक्त किए तथा पत्नी को पाँच रुपये प्रतिमाह सारे खर्च सहित वसीयत में लिख दी । अपनी समृद्ध पुत्रियों को उन्होंने सम्पदा में से एक पैसा भी नहीं दिया । देशवासियों को ही कुटुंबी-स्वजन मानकर उन्हें ही अपना उत्तराधिकारी मान वे सब कुछ समर्पित कर गए ।

प्रसिद्ध क्रांतिकारी शहीद फुलेना प्रसाद जी के ससुराल वाले धनाड्य परिवार के थे । विवाह के समय उनके मना करने पर भी उन्हें जो भी सामान दिया गया,

उन्होंने जरूरत मंदों में बाँट दिया व स्वयं साधारण कुर्तों से काम चलाते रहे । उनकी पत्नी को यह उदारता और अपने मायके से मिले उपहारों का निरादर रूचा नहीं । अगले दिन वे अपनी पत्नी को गरीबों की एक बस्ती में ले गए । उनकी अभावग्रस्तता व जीवन की वास्तविकता देख पत्नी श्रीमती तारादेवी द्रवित हो उठीं । उन्होंने भी अपने आभूषण आदि बेचकर स्वयं को समाज-सेवा में लगा दिया । पति फुलेना प्रसाद अपनी जान न्योछावर कर गौरवान्वित हुए, साथ ही अनेक के प्रेरणा स्रोत भी बन गए ।

इस संदर्भ में कराँची की एक घटना बड़ी मार्मिक है । भारत विभाजन के पूर्व की बात है । कराँची में जन सहयोग से एक सार्वजनिक चिकित्सालय का निर्माण हो रहा था । दस हजार रुपयों से अधिक देने वालों के संगमरमर के नाम-पट्ट लगाने का निर्णय कार्यकारिणी ने लिया ताकि इसी बहाने अधिक धन एकत्र किया जा सके । जमशेद जी मेहता नामक एक व्यापारी को अस्पताल के उद्देश्यों के बारे में बताया गया तो वे तुरंत धन देने को तैयार हो गए । नाम पट्ट की बात भी एक सज्जन ने छेड़ दी । सुनते ही उन्होंने ९९५० रुपये निकाल कर दे दिए । वे सज्जन बोले-"संभवतः गिनने में गलती हो गयी है । आप पचास रुपये और दे दें तो आपका नाम पट्ट भी हम लगा देंगे ।" जमशेद जी ने गंभीरतापूर्वक कहा-"नाम पट्ट लगवा कर मैं अपना विज्ञापन नहीं चाहता । समाज सेवा के साथ लोकेषणा को जोड़कर मैं उसके स्तर को नहीं गिराऊँगा ।"

कहाँ मिलते हैं आज ऐसे उदाहरण । ऐसे महामानवों से ही हमेशा देश-समाज गौरवान्वित हुआ है ।



मुद्रक : युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा